

## तृतीय खण्ड

### 1 विनय—पत्रिका में भक्ति की संकल्पनाएँ

विनय—पत्रिका का प्रयोजन— तुलसीदास ने अपना दुःख निवेदन करने के लिए श्रीरामचन्द्रजी को यह निज—बीती पत्रिका लिखी है। सामने न पहुँच सकने के कारण यह पत्रिका दरबार में पेश कराई गई है। जब कलि के मारे तुलसीदास का नाकों दम आ गया, तब उन्हें महाराज श्रीरामचन्द्रजी के दरबार में यह पत्रिका भेजनी पड़ी। तुलसीदास ने कलियुग के अत्याचारों से तंग आकर ही यह पत्रिका लिखी है। “इसमें एक त्रिताप—संतप्त जीव, परमात्मा के सम्मुख पत्रिका द्वारा अपना दुःख निवेदन कर रहा है। वह परमात्मा को स्वामी, महाराजाधिराज, सर्वशक्तिमान् और पिता के रूप में देखता है।”<sup>1</sup> राजा महाराजा के पास कोई बालाबाला अर्जी नहीं भेजता। पहले दरबार के मुसाहबों को मिलना पड़ता है, तब कहीं पैठ होती है। इस बात को ध्यान में रखकर तुलसीदास ने पहले देवी—देवताओं को मनाया है, तब कहीं जाकर हुजूर के सामने अर्जी पेश की है। पत्रिका का प्रारम्भ श्रीगणेशजी की वंदना से किया गया है—

“गाइये गनपति जगबंदन। संकर—सुवन भवानी—नंदन।।

सिद्धि—सदन, गज—बदन, बिनायक। कृपा—सिंधु, सुंदर, सब लायक।।

मोदक—प्रिय, मुद—मंगल—दाता। बिद्या—बारिधि, बुद्धि—बिधाता।।

माँगत तुलसिदास कर जोरे। बसहिं रामसिय मानस मोरे।।”<sup>2</sup>

अर्थात् सम्पूर्ण जगत् के वन्दनीय, गणों के स्वामी श्रीगणेशजी का गुणगान कीजिये, जो शिव—पार्वती के पुत्र और उनको प्रसन्न करने वाले हैं। जो सिद्धियों के स्थान हैं, जिनका हाथीका—सा मुख है, जो समस्त विघ्नों के नायक हैं यानी विघ्नों को हरने वाले हैं, कृपा के समुद्र हैं, सुन्दर हैं, सब प्रकार से योग्य हैं। जिन्हें लड्डू बहुत प्रिय है, जो आनन्द और कल्याण को देनेवाले हैं, विद्या के अथाह सागर हैं, बुद्धि के विधाता हैं। ऐसे श्रीगणेशजी से यह तुलसीदास हाथ जोड़कर केवल यही वर माँगता है कि मेरे मनमन्दिर में श्री सीता राम जी सदा निवास करें। इस प्रकार तुलसीदास ने सर्वप्रथम श्रीगणेशजी की आराधना की है उन्होंने अपनी पत्रिका का

मंगलाचरण "गाइये गनपति जगबन्दन" से शुरु किया है। तुलसीदास लिखते हैं कि मनुष्य को सम्पूर्ण जगत् के वन्दनीय, विघ्नों को हटाने वाले श्रीगणेशजी का गुणगान करना चाहिए। क्योंकि गणेशजी कृपा के अथाह सागर हैं सब प्रकार से योग्य हैं इसलिए तो तुलसीदास ने उनसे अपने आराध्य श्रीराम के चरणों में अनन्य भक्ति का वरदान माँगा है। तुलसीदास वन्दना सभी देवी-देवताओं की करते हैं लेकिन सबसे केवल एक ही प्रार्थना करते हैं कि भगवान् राम के चरणों में मेरी भक्ति हो। तुलसीदास का एक ही ध्येय है भगवान् राम के चरणों की भक्ति प्राप्त करना। यही प्रार्थना वे भगवान् श्रीगणेश से भी हाथ जोड़कर करते हैं कि हे प्रभु मुझे राम भक्ति का वरदान दो—

**"माँगत तुलसीदास कर जोरे। बसहिं रामसिय मानस मोरे।"**

गणेश वंदना करने के बाद भगवान् भास्कर की वंदना की गई है। अनेक जन्म-संचित अविद्या अंधकार को दूर करने के लिए मरीचिमाली की स्तुति युक्तियुक्त ही है—

**"दीन-दयालु दिवाकर देवा। कर मुनि,मनुज,सुरासुर सेवा।।**

**हिम-तम-करि-केहरि करमाली। दहन दोष-दुख-दुरित-रुजाली।।**

**कोक-कोकनद-लोक-प्रकासी। तेज-प्रताप-रूप-रस-रासी।।**

**सारथि-पंगु, दिव्य रथ-गामी। हरि-संकर-बिधि-मूरति स्वामी।।**

**बेद-पुरान प्रगट जस जागै। तुलसी राम-भगति बर माँगै।।"<sup>3</sup>**

अर्थात् हे दीनदयालु भगवान् सूर्य! मुनि, मनुष्य, देवता और राक्षस सभी आपकी सेवा करते हैं। आप हिम और अन्धकार-रूपी हाथियों को मारनेवाले वनराज सिंह हैं; किरणों की माला पहने रहते हैं; दोष, दुःख, दुराचार और रोगों को भस्म कर डालते हैं। रात के बिछुड़े हुए चकवा-चकवियों को मिलाकर प्रसन्न करनेवाले कमल को खिलानेवाले तथा समस्त लोकों को प्रकाशित करने वाले हैं। तेज, प्रताप, रूप और रस की आप खानि हैं। आप दिव्य रथ पर चलते हैं, आपका सारथी (अरुण) लूला है। हे स्वामी! आप विष्णु, शिव और ब्रह्मा के ही रूप हैं। वेद-पुराणों में आपकी कीर्ति जगमगा रही है। तुलसीदास आपसे श्रीराम भक्ति का वर माँगता है। इस प्रकार तुलसीदास भगवान् भास्कर से भी यही प्रार्थना करते हैं कि जिस प्रकार आप

अन्धकार का नाश करते हैं। रात के बिछुड़े चकवा-चकवियों को मिलाकर प्रसन्न करते हैं उसी प्रकार मुझ जीव को प्रभु श्रीराम से मिलाकर मेरे जन्म-जन्म के भव-बन्धन का पाश काट डालो। तुलसीदास भगवान् सूर्य से प्रार्थना करते हैं कि मुझे राम भक्ति का वरदान दो। मेरे जीवन को भी प्रकाशित कर दो। इस प्रकार गणेश वन्दना तथा भगवान् भास्कर से प्रार्थना करने के बाद तुलसीदास अब पार्वतीवल्लभ जगद्गुरु शिव का गुणगान करते हैं। यहीं से कल्याण का पथ प्रशस्त होता है-

“बावरो रावरो नाह भवानी ।

दानि बड़ो दिन देत दये बिनु, बेद-बड़ाई भानी ।।

निज घरकी बरबात बिलोकहु, हौ तुम परम सयानी ।

सिवकी दर्ई संपदा देखत, श्री-सारदा सिहानी ।।

जिनके भाल लिखी लिपि मेरी, सुखकी नहीं निसानी ।

तिन रंकनकौ नाक सँवारत, हौं आयो नकबानी ।।

दुख-दीनता दुखी इनके दुख, जाचकता अकुलानी ।

यह अधिकार सौंपिये औरहिं, भीख भली मैं जानी ।।

प्रेम-प्रसंसा-बिनय-ब्यंगजुत, सुनि बिधिकी बर बानी ।

तुलसी मुदित महेस मनहिं मन, जगत-मातु मुसुकानी ।।”<sup>4</sup>

अर्थात् (ब्रह्माजी लोगों का भाग्य बदलते-बदलते हैरान होकर पार्वतीजी के पास जाकर कहने लगे) हे भवानी! आपके नाथ (शिवजी) पागल हैं। सदा देते ही रहते हैं। जिन लोगों ने कभी किसी को दान देकर बदले में पाने का कुछ भी अधिकार नहीं प्राप्त किया, ऐसे लोगों को भी वे दे डालते हैं, जिससे वेद की मर्यादा टूटती है। आप बड़ी सयानी हैं, अपने घर की भलाई तो देखिये (यों देते-देते घर खाली होने लगा है, अनधिकारियों को) शिवजी की दी हुई अपार सम्पत्ति देख-देखकर लक्ष्मी और सरस्वती भी (व्यंग से) आपकी बड़ाई कर रही हैं। जिन लोगों के मस्तक पर मैंने सुख का नाम-निशान भी नहीं लिखा था, आपके पति शिवजी के पागलपन के कारण उन कंगालों के लिये स्वर्ग सजाते-सजाते मेरे नाकों दम आ गया है। कहीं भी रहने को जगह न पाकर दीनता और दुःखियों के दुःख भी दुःखी हो रहें हैं और याचकता तो व्याकुल हो उठी है। लोगों की भाग्यलिपि बनाने का यह अधिकार

कृपाकर आप किसी दूसरे को सौंपिये, मैं तो इस अधिकार की अपेक्षा भीख माँगकर खाना अच्छा समझता हूँ। इस प्रकार ब्रह्माजी की प्रेम, प्रशंसा, विनय और व्यंग से भरी हुई सुन्दर वाणी सुनकर महादेवजी मन—ही—मन मुदित हुए और जगज्जननी पार्वती मुसकराने लगीं। तुलसीदास भगवान् शंकर से प्रार्थना करते हैं क्योंकि वे जानते हैं कि भगवान् शंकर बहुत भोले हैं थोड़ी सी प्रार्थना से ही बहुत कुछ दे देते हैं। भगवान् शंकर दयावान् हैं। जो कंगाल है, उनको भी मालामाल कर देते हैं अतः तुलसीदास को पूर्ण विश्वास है कि भगवान् शंकर मुझे श्रीराम के चरणों में भक्ति का वरदान अवश्य देंगे। कलि को डराने के लिए भगवान् शंकर के बाद भीषणमूर्ति भैरव का भी ध्यान किया गया है। भगवान् भैरव भूत, प्रेत और गणोंके स्वामी हैं। विपत्तियों को तुरन्त हर लेते हैं। तुलसीदास भगवान् भैरव से अपने जन्म—मरणरूप संसार के भय को दूर करने का निवेदन करते हैं। उसके बाद तुलसीदास ने पार्वती, गंगा, यमुना, काशी और चित्रकूट का यशोगान किया है। तुलसीदास लिखते हैं कि चित्रकूट सब तरह के शोकों से छुड़ानेवाला है। यह कलियुग का नाश करने वाला और कल्याण करने वाला हरा—भरा वृक्ष है। चित्रकूट—पर्वत का निश्छल नियमपूर्वक सेवन करने का आग्रह है। चित्रकूट का वर्णन बड़ा ही विशद और हृदयग्राही हुआ है। उसके बाद हनुमान्जी की वंदना आरंभ होती है। यह तुलसीदास के खास वकील हैं। तुलसीदास ने हनुमान्जी के आगे अपनी सारी व्यथा—कथा खोलकर रख दी है। हनुमान्जी के साथ तुलसीदास बहुत हिलेमिले जान पड़ते हैं। इसके बाद लक्ष्मण और फिर भरत और शत्रुघ्न से विनय की है। यहाँ तक दरबार के सभी मुसाहब साध लिये गये हैं। अब किसी की ओर से कोई शंका नहीं है। श्रीरघुनाथजी के सामने अपने सम्बन्ध की चर्चा छेड़ने के लिए तुलसीदास ने श्रीजनक—नन्दिनीजी को क्या ही युक्ति बताई है! कहते हैं—

“कबहुँक अंब, अवसर पाइ ।

मेरिऔ सुधि द्याइबी, कछु करुन—कथा चलाइ ।।

दीन, सब अँगहीन, छीन, मलीन, अघी अघाइ ।

नाम लै भरै उदर एक प्रभु—दासी—दास कहाइ ।।

बूझिहैं 'सो है कौन', कहिबी नाम दसा जनाइ ।

सुनत राम कृपालु के मेरी बिगरिऔ बनि जाइ ।।

जानकी जगजननि जनकी किये बचन सहाइ ।

तरै तुलसीदास भव तव नाथ—गुन—गन गाइ ।।<sup>5</sup>

अर्थात् हे माता! कभी अवसर हो तो कुछ करुणा की बात छोड़कर श्रीरामचन्द्रजी को मेरी भी याद दिला देना, (इसी से मेरा काम बन जायगा)। यों कहना कि एक अत्यन्त दीन, सर्व साधनों से हीन, मनमलीन, दुर्बल और पूरा पापी मनुष्य आपकी दासी (तुलसी) का दास कहलाकर और आपका नाम ले-लेकर पेट भरता है। इस पर प्रभु कृपा करके पूछें कि वह कौन है, तो मेरा नाम और मेरी दशा उन्हें बता देना। कृपालु रामचन्द्रजी के इतना सुन लेने से ही मेरी सारी बिगड़ी बात बन जायगी। हे जगज्जननी जानकी जी ! यदि इस दास की आपने इस प्रकार वचनों से ही सहायता कर दी, तो यह तुलसीदास आपके स्वामी की गुणावली गाकर भवसागर से तर जायेगा। 42 पद पर्यन्त स्तुतिगान करके कवि ने 43वें पद में संक्षिप्त रामचरित का वर्णन किया है। 45वें पद में पुनः रामचन्द्र की वन्दना, 48वें में श्रीकृष्ण-वन्दना, 52वें में दशावतार-कथा तथा 61,62,63वें पदों में श्रीविन्दुमाधव की वन्दना की गई है। इस वन्दना-समुच्चय के बाद विनय-पत्रिका का वास्तविक रूप देखने में आता है। जीव परमेश्वर के सम्मुख अपना दैन्य, दुःख-निवेदन, असामर्थ्य आदि किस-किस ढँग से उपस्थित कर सकता है, इसे तुलसीदास ने यत्र-तत्र अनेक रीतियों से दिखाया है। किसी पद में स्वामी का प्रभुत्व, तो किसी में सौहार्द व किसी में औदार्य एवं शील प्रदर्शित किया गया है। किसी पद में जीव का असामर्थ्य, किसी में आत्मग्लानि वा किसी में मनोराज्य दिखाया गया है। किसी पद में अपनी राम कहानी सुनाई गई है, तो किसी में अत्याचार-पीड़ित मानव-समाज का प्रतिनिधित्व स्वीकार किया गया है। इस प्रकार 276 पद तक पत्रिका लिखी गई है। पत्रिका पूरी हो चुकी। अब पेश कौन करे? फिर हनुमान्, शत्रुघ्न, लक्ष्मण और भरत से प्रार्थना की। सेवक होने के कारण अगुवा बनने का किसी का साहस न हुआ। फिर अन्त में लक्ष्मण ने पत्रिका पेश की। इस पद के साथ ग्रंथ समाप्त होता है—

“मारुति-मन, रुचि भरत की लखि लषन कही है।

कलिकालहु नाथ! नाम सों परतीति-प्रीति एक किंकर की निबही है।।

सकल सभा सुनि लै उठी, जानी रीति रही है।

कृपा गरीब निवाज की, देखत गरीब को साहब बाँह गही है।

बिहँसि राम कह्यो 'सत्य है, सुधि मैं हूँ लही है'।

मुदित माथ नावत, बनी तुलसी अनाथ की, परी रघुनाथ सही है।<sup>6</sup>

अर्थात्— भगवान् श्रीराम का दिव्य दरबार लगा है, प्रभु जगज्जननी श्रीजानकी जी के सहित अलौकिक रत्नजटित राज्य सिंहासन पर विराजमान हैं। हनुमान् जी प्रेममग्न हुए नाथ की ओर अनन्य दृष्टि से निहारते हुए चरण दबा रहे हैं। भरतजी, लक्ष्मणजी और शत्रुघ्नजी अपने-अपने अधिकारानुसार सेवा में संलग्न हैं। उसी समय तुलसीदास की 'विनय-पत्रिका' पहुँची। तुलसीदास की प्रार्थना सबको याद थी। भक्त-प्रिय मारुति श्रीहनुमान् और भरत ने धीरे से लक्ष्मण से कहा कि बड़ा अच्छा मौका है, इस समय तुलसीदास की बात छेड़ देनी चाहिये। लक्ष्मणजी ने उनकी रुख देखकर प्रभु की सेवा में 'विनय-पत्रिका' पेश कर दी। हनुमान्जी और भरतजी का मन और उनकी रुचि को देखकर लक्ष्मणजी ने भगवान से कहा कि हे नाथ! कलियुग में भी आपके एक दास की आपके नाम से प्रीति और प्रतीति निभ गयी (देखिये उसकी यह सच्ची विनय-पत्रिका भी आयी है)। इस बात को सुनकर सारी सभा एकमत से कह उठी कि हाँ, यह बात सर्वथा सत्य है, हम लोग भी उसकी रीति जानते हैं। गरीब-निवाज भगवान् श्रीरामजी की उस पर (बड़ी) कृपा है। स्वामी ने सबके देखते-देखते उस गरीब की बाँह पकड़कर उसे अपना लिया है। सबकी बात सुनकर श्रीराम ने मुसकराकर कहा कि हाँ, यह सत्य है, मुझे भी उसकी खबर मिल गयी है। बस, फिर क्या था—अनाथ, तुलसी की रची हुई विनय-पत्रिका पर रघुनाथजी ने अपने हाथ से 'सही' कर दी। अपनी बात बनने पर मैंने भी परम प्रसन्न होकर भगवान् के चरणों में सिर टेक दिया। इस प्रकार तुलसीदास ने अपनी पत्रिका अपने आराध्य के समक्ष प्रस्तुत की। उन्होंने पत्रिका को अपने विनय से ओत-प्रोत कर लिखा है। पत्रिका के माध्यम से अपने दैन्य और प्रभु की सामर्थ्य को प्रस्तुत किया गया है। यह पत्रिका मानवीय भावों से परिपूर्ण होने के साथ-साथ मनुष्य को भक्ति मार्ग पर अग्रसर करने का अच्छा स्रोत है। तुलसीदास के अनुसार भक्ति प्रेम है। तुलसीदास ने लिखा है कि राम नाम से निष्कपट प्रेम करने से ही जीव का उदार होगा। अपने आराध्य श्रीराम से सच्चा प्रेम ही भक्ति है।

क्योंकि परमात्मा का प्रेम अपस्वार्थ की पूर्ति का साधन नहीं है। वह तो केवल भक्ति के आनन्द के लिए ईश्वर से प्रेम करता है और यही भक्ति का सर्वस्व है—

“राम राम रमु राम राम रटु, राम राम जपु जीहा।

राम नाम—नवनेह—मेहको, मन! हठि होहि पपीहा।।

सब साधन—फल कूप—सरित—सर, सागर—सलिल—निरासा।

रामनाम—रति—स्वाति—सुधा—सुभ—सीकर प्रेम पियासा।।

गरजि, तरजि, पाषान बरषि पवि, प्रीति परखि जिय जानै।

अधिक अधिक अनुराग उमँग उर, पर परमिति पहिचानै।।

रामनाम—गति, रामनाम—मति, राम—नाम—अनुरागी।

हवै गये, हैं, जे होहिंगे, तेइ त्रिभुवन गनियत बड़भागी।।

एक अंग मग अगमु गवन कर, बिलमु न छिन छिन छाहैं।

तुलसी हित अपनो अपनी दिसि, निरुपधि नेम निबाहैं।।”<sup>7</sup>

अर्थात् हे जीभ! तू सदा राम राम में रमा कर, राम राम रटाकर और राम राम का जाप किया कर। हे मन! तू भी रामनाम में प्रेमरूपी नित्य—नवीन मेघ के लिये हठ करके पपीहा बन जा। जैसे पपीहा कुआँ, नदी, तालाब और समुद्र तक के जल की जरा—सी भी आशा न कर केवल स्वाति—नक्षत्र के जल की एक प्रेम—बूँद के लिये प्यासा रहता है, ऐसे ही तू भी और सारे साधनों तथा उनके फलों की आशा न कर केवल श्रीरामनाम के प्रेमरूपी अमृत की बूँद में ही प्रीति कर।। पपीहे पर उसका प्रेमी मेघ गरजता है, डाँट बतलाता है, ओले बरसाता है, वज्रपात करता है, इस प्रकार कठिन—से—कठिन परीक्षा करके पपीहे के अनन्य प्रेम को पूर्णरूप से परखकर जब वह इस बात को जान लेता है कि ज्यों—ज्यों परीक्षा लेता हूँ त्यों—त्यों इस पपीहे का प्रेम अधिकाधिक बढ़ता है, (तब उसे स्वाति की बूँद मिलती है)। इसी प्रकार (भगवान् की दया से परीक्षा के लिये कैसे ही संकट आकर तुझे विचलित करने की चेष्टा क्यों न करें) तू तो (अनन्य मन से) श्रीराम नाम की ही शरण ग्रहण कर, रामनाम में ही बुद्धि लगा, राम—नाम का ही प्रेमी बन। ऐसे रामनाम के आश्रित जितने भक्त हो गये हैं, अभी हैं और जो आगे होंगे, त्रिलोकी में उन्हीं को बड़ा भाग्यवान् समझना चाहिये। यह (रामनाम में अनन्य प्रेम करने का) एकांगी मार्ग

बड़ा ही कठिन है, यदि तू इस मार्ग पर चला जाय तो क्षण-क्षण में (सांसारिक सुखों की) छाया लेने के लिये ठहरकर देर न करना। हे तुलसीदास! तेरा भला तो अपनी ओर से श्रीरामनाम में निरुपधि अर्थात् निष्कपट प्रेम के निबाहने से ही होगा। इस प्रकार तुलसीदास ने सांसारिक सुखों को तुच्छ माना है। व्यक्ति अज्ञानवश सांसारिक सुखों की प्राप्ति को ही अपना लक्ष्य समझता है लेकिन भक्ति का उदय हो जाने पर सब अज्ञानांधकार नष्ट हो जाता है तथा व्यक्ति केवल अपने आराध्य (श्रीराम) से प्रेम करने लग जाता है उसे सांसारिक प्रलोभन नश्वर लगते हैं और भगवान् राम से प्रेम ही सत्य लगता है। इस प्रकार असत्य और सत्य का भेद पता चल जाता है और वह केवल भक्ति के प्रेम के लिए भक्ति करता है। इस प्रकार तुलसीदास संसार रूपी रात्रि से जागकर ईश्वर से प्रेम करने का संदेश देते हैं—

“जागु, जागु, जीव जड़! जोहै जग-जामिनी।

देह-गेह-नेह जानि जैसे घन-दामिनी।।

सोवत सपनेहूँ सहै संसृति-संताप रे।

बूडयो मृग-बारि खायो जेवरी को साँप रे।।

कहैं बेद-बुध, तू तो बूझि मनमाहिं रे।

दोष-दुख सपने के जागे ही पै जाहिं रे।।

तुलसी जागेते जाय ताप तिहूँ ताय रे।

राम-राम सुचि रुचि सहज सुभाय रे।।”<sup>8</sup>

अर्थात् अरे मूर्ख जीव! जाग, जाग! इस संसार रूपी रात्रि को देख! शरीर और घर-कुटुम्ब के प्रेम को ऐसा क्षणभंगुर समझ जैसे बादलों के बीच की बिजली, जो क्षणभर-चमककर ही छिप जाती है। (जागने के समय ही नहीं) तू सोते समय सपने में भी संसार के कष्ट ही सह रहा है; अरे! तू भ्रम से मृग-तृष्णा के जल में डूबा जा रहा है और तुझे रस्सी का सर्प डँस रहा है। वेद और विद्वान् पुकार-पुकार कर कह रहे हैं, तू अपने मन में विचार कर समझ ले कि स्वप्न के सारे दुःख और दोष वास्तव में जागने पर ही नष्ट होते हैं। हे तुलसी संसार के तीनों ताप अज्ञानरूपी निद्रा से जागने पर ही नष्ट होते हैं और तभी श्रीराम-नाम में अहेतुकी स्वाभाविक विशुद्ध प्रीति उत्पन्न होती है। इस प्रकार तुलसीदास लिखते हैं कि जब जीव



भगवत्परायण होता है तभी उसे यह संसार मिथ्या लगता है और भक्ति सत्य। लेकिन यह जीव भगवत्परायण कैसे हो? तुलसीदास लिखते हैं कि श्रीजानकीवल्लभजी की कृपा इस प्रसुप्त जीव को सचेत कर सकती है। उनकी उस कृपा पर पूर्ण प्रतीति होनी चाहिए। कृपालु प्रभु अवश्य कृपा करेंगे। तुलसीदास को भगवत्कृपा पर पूर्ण विश्वास है। उन्हें यह अनुभव हो गया है, कि

“जानकीसकी कृपा जगावती सुजान जीव,

जागि त्यागि मूढ़ताऽनुरागु श्रीहरे।

करि बिचार, तजि बिकार, भजु उदार रामचंद्र,

भद्रसिंधु दीनबंधु, बेद बदत रे।।

मोहमय कुहू-निसा बिसाल काल बिपुल सोयो,

खोयो सो अनूप रूप सुपन जू परे।

अब प्रभात प्रगट ग्यान-भानु के प्रकाश,

बासना, सराग मोह-द्वेष निबिड़ तम टरे।।

भागे मद-मान चोर भोर जानि जातुधान

काम-कोह-लोभ-छोभ-निकर अपडरे।

देखत रघुबर-प्रताप, बीते संताप-पाप,

ताप त्रिबिध प्रेम-आप दूर ही करे।।

श्रवन सुनि गिरा गँभीर, जागे अति धीर बीर,

बर बिराग-तोष सकल संत आदरे।

तुलसीदास प्रभु कृपालु, निरखि जीव जन बिहालु,

भंज्यो भव-जाल परम मंगलाचरे।।<sup>9</sup>

अर्थात् (श्रीराम नाम के आश्रित) चतुर जीवों को श्रीरामजी की कृपा ही (अज्ञानरूपी निद्रा से) जगाती है, (अतएव रामनाम के प्रभाव से) मूर्खता को त्यागकर जाग और श्रीहरि के साथ प्रेम कर। नित्यानित्य वस्तु का विचार करके, काम-क्रोधादि समस्त विकारों को छोड़कर कल्याण के समुद्र, दीनबन्धु, उदार श्रीरामचन्द्र का भजन कर, यही वेद की आज्ञा है। मोहमयी अमावस्या की लंबी रात्रि में सोते हुए तुझे बहुत समय बीत गया और माया-स्वप्न में पड़कर तू अपने अनुपम आत्मस्वरूप को भूल गया। देख अब सबेरा हो गया है और ज्ञान रूपी सूर्य का प्रकाश होते ही वासना,

राग, मोह और द्वेषरूपी घोर अन्धकार दूर हो गया है। (ज्ञानरूपी) प्रातःकाल हुआ समझकर गर्व और मान रूपी चोर भागने लगे तथा काम, क्रोध, लोभ और क्षोभ रूपी राक्षसों के समूह अपने-आप डर गये। श्रीरघुनाथजी के प्रचण्ड प्रताप को देखते ही पाप-सन्ताप नष्ट हो गये और तीन प्रकार के ताप श्रीरामजी के प्रेम रूपी जल ने शान्त कर दिये। इस गम्भीर वाणी को कानों से सुनकर धीर-वीर संत मोहनिद्रा से जाग उठे और उन्होंने सुन्दर वैराग्य, सन्तोष आदि को आदर से अपना लिया। हे तुलसीदास! कृपामय श्रीरामचन्द्रजी ने भक्त-जीवों को व्याकुल देखकर संसार रूपी जाल तोड़ डाला और उन्हें परमानन्द प्रदान करने लगे। इस प्रकार तुलसीदास ने जीव को भगवान् से प्रेम करने को कहा है तथा प्रेमपूर्वक की गयी सच्ची भक्ति ही सत्य है। भक्ति के द्वारा ही इस भवसागर से पार जाया जा सकता है तथा भक्त भगवान् के चरणों में प्रेम करने से इस संसार से विरक्त हो सकता है। सांसारिक प्रलोभनों को छोड़कर जब भक्त भगवान् से प्रेम करने लगता है तो यही सच्ची भक्ति है इससे भक्त स्वयं तर कर अपनी उपस्थिति से संसार को भी तार सकता है। तुलसीदास के अनुसार भक्ति सेवा है। सेवा भक्ति की आधार भूमि है। सेवा में सर्वप्रथम निश्छल भाव की प्रगाढ़ता अपेक्षित है। जब मनुष्य निश्छल भाव से ईश्वर की सेवा करता है तब उसे परम आनन्द की प्राप्ति होती है। वह लौकिक सम्बन्धों को छोड़कर केवल अलौकिक और पूर्ण आनन्द के स्त्रोत ईश्वर की सेवा में लग जाता है तथा सर्वतोभावेन ईश्वर के प्रति समर्पित हो जाता है—

“सुनु मन मूढ़ सिखावन मेरो ।

हरि-पद-बिमुख लह्यो न काहु सुख, सठ! यह समुझ सबेरो ॥

बिछुरे ससि-रबि मन-नैननितें पावत दुख बहुतेरो ।

भ्रमत श्रमित निसि-दिवस गगन महँ, तहँ रिपु राहु बड़ेरो ॥

जद्यपि अति पुनीत सुरसरिता, तिहुँ पुर सुजस घनेरो ।

तजे चरन अजहूँन मिटत नित, बहिबो ताहू केरो ॥

छुटै न बिपति भजे बिनु रघुपति, श्रुति संदेहु निबेरो ।

तुलसिदास सब आस छाँड़ि करि, होहु राम को चेरो ॥”<sup>10</sup>

अर्थात् हे मूर्ख मन! मेरी सीख सुन, हरि के चरणों से विमुख होकर किसी ने भी सुख नहीं पाया। हे दुष्ट! इस बात को शीघ्र ही समझ ले (अभी कुछ नहीं बिगड़ा

है, शरण जाने से काम बन सकता है) देख यह सूर्य और चन्द्रमा जब से भगवान् के नेत्र और मन से अलग हुए तभी से बड़ा दुःख भोग रहे हैं। रात-दिन आकाश में चक्कर लगाते बिताने पड़ते हैं, वहाँ भी बलवान् शत्रु राहु पीछा किये रहता है। यद्यपि गंगाजी देवनदी कहाती हैं और बड़ी पवित्र हैं, तीनों लोकों में उनका बड़ा यश भी फैल रहा है, परन्तु भगवच्चरणों से अलग होने पर तब से आजतक उनका भी नित्य बहना कभी बंद नहीं होता। श्रीरघुनाथजी के भजन बिना विपत्तियों का नाश नहीं होता। इस सिद्धान्त का सन्देह वेदों ने नष्ट कर दिया है। इसलिये हे तुलसीदास! सब प्रकार की आशा छोड़कर श्रीराम का दास बन जा। इस प्रकार तुलसीदास ने लिखा है कि प्रेमपूर्वक ईश्वर की सेवा करने से भक्तिका उदय होता है तथा भक्ति का उदय हो जाने पर व्यक्ति संसार की नश्वरता को पहचान जाता है। वह सांसारिक प्रलोभनों से विरक्त हो जाता है तथा ईश्वर में आसक्त हो जाता है। जैसे-जैसे ईश्वर में आसक्ति बढ़ती जाती है संसार से विरक्ति बढ़ने लगती है। मनुष्य अपना सम्पूर्ण प्रेम अपने आराध्य को समर्पित करके निश्चिन्त हो जाता है। उसका जीवन ईश्वरमय हो जाता है तथा भक्त स्वयं तर कर औरों को भी तारता है।

**विनय-पत्रिका में भक्ति-दर्शन-** 'विनय-पत्रिका' में भक्ति का सांगोपांग वर्णन किया गया है। यह सभी भक्ति-ग्रन्थों में एक परमोत्कृष्ट ग्रन्थ है। इसमें तुलसीदास ने अपने हृदय को विनय से भिगोकर प्रस्तुत किया है। तुलसीदास ने विनय पत्रिका के माध्यम से अपने आराध्य श्रीराम के चरणों में एक अर्जी पेश की है, जिसमें भक्ति के अनेक अंगों एवं उपागों सहित अपनी व्यथा सुनाकर कलियुग से अर्थात् सांसारिक कष्टों से बाहर निकालने तथा भगवान् श्रीराम के चरणों में शरण पाने की बार-बार प्रार्थना की गई है। भक्ति में निमग्न व्यक्ति को तो यह ग्रन्थ जीवन का सार ही लगता है। तुलसीदास ने विनय-पत्रिका के माध्यम से व्यक्ति को इस भवसागर से पार होने का जो रास्ता दिखाया है, वह रास्ता है-भक्ति। विनय-पत्रिका की आधार भूमि ही भक्ति है। "विनय-पत्रिका भक्तिकांड का एक परमोत्कृष्ट ग्रन्थ है, अनुराग महोदधि का एक दिव्य रत्न है। भक्तों के सरस हृदय का तो यह ग्रन्थ जीवन सर्वस्व है। भक्तिपथ की सांगोपांग पद्धति इसमें दिखाई गई है। इस प्रेमरत्न-मंजूषा के भीतर सुरसिक जौहरी कैसे-कैसे विलक्षण रत्न पा सकता है यह कहने की बात

नहीं, अनुभव करने की है। जब समग्र ग्रन्थ ही भक्ति-रस से परिप्लुप्त है तो भक्ति-सिद्धान्त ही सर्वत्र प्रतिपन्न मिलेगा लेकिन किसी के मत से तुलसीदास विशिष्टाद्वैतवादी और किसी की सम्मति से अद्वैतवादी सिद्ध किए गए हैं। हमारी दृष्टि में तुलसीदास का भक्ति-दर्शन रामानुजाचार्य के विशिष्टाद्वैतवाद से मेल खाता है।<sup>11</sup> विशिष्टाद्वैतवाद में ब्रह्म तथा जीव में अंतर होता है। ब्रह्म विशिष्ट होता है तथा जीव तुच्छ होता है। जीव ईश्वर की शरण में जाकर ही ईश्वर (ब्रह्म) का सामिध्य प्राप्त कर सकता है। जीव भक्ति के माध्यम से ही इस माया रूपी आवरण को काट सकता है तथा ईश्वरमय हो सकता है। यह संसार जो सत्य प्रतीत होता है वह माया के ही कारण प्रतीत होता है। जब मनुष्य ईश्वर की शरण में जाता है तो यह मायाजाल कट जाता है तथा जीव को जो सत्य लग रहा था वह मिथ्या जान पड़ता है। इस प्रकार हरिभक्ति से ही भवबन्धनों से मुक्त हुआ जा सकता है। तुलसीदास भी राम को विशिष्ट तथा जीव को तुच्छ समझते हैं तथा राम भक्ति से ही जीव ईश्वर का सामिप्य प्राप्त कर सकता है। रामानुजाचार्य ने शंकरवाद का खण्डन कर भक्तिप्रधान श्रीसंप्रदाय की स्थापना की थी। इसी संप्रदाय में आगे चल कर रामानन्द जी हुए। जिन्होंने भक्ति को जाति-पाँति के बन्धन से निकालकर जन-जन तक पहुँचाया। “आचारी वैष्णवों में कुछ संकीर्णता देखकर श्री रामानन्द स्वामी ने एक प्रथक् ही अपना संप्रदाय चला दिया। इन्होंने श्रीरामनाम और राम-भक्ति को ही प्राधान्य दिया। जाति-पाँति का विचार एकदम तोड़ दिया। जुलाहे, चमार और कसाई भी इनके चेले हो गए। भक्ति-भागीरथी सुविस्तीर्ण-क्षेत्र में होकर बहने लगीं। नभो मण्डल श्रीरामनाम की मधुर-ध्वनि से गूँज उठा।”<sup>12</sup> तुलसीदास भी इसी श्रीसंप्रदाय के अनन्य वैष्णव थे। आचार्य रामानुज या विशिष्टाद्वैतवाद या श्रीसंप्रदाय के अनुसार— जीव व ब्रह्म एक नहीं होते। ब्रह्म (ईश्वर, सगुण) विशिष्ट होता है तथा चित् (जीव) व अचित् (जगत्) ब्रह्म का अंश मात्र है। जीव व ब्रह्म दोनों ही सत्य है किन्तु दोनों समान रूप से स्वतंत्र नहीं हैं। जीव ब्रह्म से भिन्न उसका अंश मात्र है। ईश्वर, जीव और जगत् तीनों ही सत्य हैं तथा भक्ति द्वारा जीव को मोक्ष प्राप्त होता है। जीव को ईश्वर का सादृश्य प्राप्त हो जाता है लेकिन “जीव व परमात्मा का ऐक्य सम्पन्न नहीं होता।”<sup>13</sup> जीव जब तक भगवान् की शरण में नहीं जाता, तब तक उसका परम कल्याण हो नहीं सकता।

इस प्रकार तुलसीदास का भी यही मानना है कि ईश्वर विशिष्ट है तथा जीव तुच्छ है लेकिन जीव ईश्वर की शरण में आकर धन्य हो जाता है। भगवान् का सादृश्य प्राप्त हो जाता है। इसी बात को तुलसीदास ने अग्र लिखित पद्य से इस प्रकार प्रस्तुत किया है—

“तू दयालु, दीन हौं, तू दानी, हौं भिखारी।

हौं प्रसिद्ध पातकी, तू पाप—पुंज—हारी।।

नाथ तू अनाथ को, अनाथ कौन मोसो।

मो समान आरत नहिं, आरतिहर तोसो।।

ब्रह्म तू हौं जीव, तू है ठाकुर, हौं चरो।

तात—मात, गुरु—सखा, तू सब बिधि हितु मेरो।।

तोहिं मोहिं नाते अनेक, मानियै जो भावै।

ज्यों त्यों तुलसी कृपालु! चरन—सरन पावै।।<sup>14</sup>

अर्थात् हे नाथ! तू दीनों पर दया करने वाला है, तो मैं दीन हूँ। तू अतुल दानी है, तो मैं भिखमंगा हूँ। मैं प्रसिद्ध पापी हूँ, तो तू पाप—पुंजों का नाश करने वाला है। तू अनाथों का नाथ है, तो मुझ—जैसा अनाथ भी और कौन है? मेरे समान कोई दुःखी नहीं है और तेरे समान कोई दुःखों को हरने वाला नहीं है। तू ब्रह्म है, मैं जीव हूँ। तू स्वामी है, मैं सेवक हूँ। अधिक क्या, मेरा तो माता, पिता, गुरु, मित्र और सब प्रकार से हितकारी तू ही है। मेरे—तेरे अनेक नाते हैं; नाता तुझे जो अच्छा लगे, वही मान ले। परन्तु बात यह है कि हे कृपालु! किसी भी तरह यह तुलसीदास तेरे चरणों की शरण पा जावे। इस प्रकार तुलसीदास अपने आराध्य श्रीराम से अपनी दीनता का वर्णन करते हुए कहते हैं कि हे प्रभु मैं दीन हूँ। कुछ भी करने का मेरे में सामर्थ्य नहीं है। मैं भिखारी की तरह हर समय आप से कुछ न कुछ माँगता ही रहता हूँ। मैं तो केवल पापी ही नहीं सभी पापियों में अग्रगण्य हूँ। लेकिन आपकी सामर्थ्य में मुझे पूर्ण विश्वास है। आप दीनों पर दया करने में आगे रहते हैं। आप अतुल दानी हैं, भक्त को बिन माँगे सब कुछ दे देते हैं। आप पाप—पुंजों को

पलक—झपकते ही नष्ट कर देते हैं। आप सभी अनाथों के नाथ हैं अर्थात् सहारा हैं जिसका इस संसार में कोई सहारा नहीं उसका ईश्वर अपने आप सहारा बन जाते हैं। भगवान् स्वयं सारथी बन कर उसके रथ को हाँकते हैं। आप दुखों का हरण करने वाले हैं। तू ब्रह्म है, मैं जीव हूँ। तू स्वामी है, मैं सेवक हूँ। तुलसीदास लिखते हैं कि ईश्वर ब्रह्म है अर्थात् विशिष्ट हैं, मनुष्य जीव है जो माया के अधीन है अर्थात् तुच्छ है। जीव भक्ति के माध्यम से ईश्वर की शरण में आकर ही इस संसार से तर सकता है। इस प्रकार तुलसीदास ने ब्रह्म को विशिष्ट तथा जीव को तुच्छ माना है। वे ब्रह्म तथा जीव को अलग—अलग मानते हैं। उन्होंने रामनाम की महत्ता और सर्वप्रधानता को ही प्रमुख माना है। जीव प्रभु की शरण पाकर ही धन्य हो सकता है। उन्होंने अपने सारे संबन्धों को भगवान् श्रीराम में ही देखा है। वे अपने आप को पापी तथा अनाथ मानते हैं लेकिन भगवान् की सामर्थ्य में पूर्ण विश्वास है तभी तो भगवान् को अपना सब प्रकार से हितकारी समझते हैं। निःसन्देह उन्होंने कहीं—कहीं अद्वैतवादियों की तरह जगत् को असत्य माना है। उसे मृगजल, रज्जु—सर्प, रजत—सीप आदि कहकर भ्रमरूप बताया है। किन्तु तुलसीदास का प्रयोजन अद्वैतवादियों के प्रयोजन से भिन्न है। जहाँ अद्वैतवादि जगत् को असत्य समझते हैं वहीं तुलसीदास केवल उसी जगत् को असत्य समझते हैं। जहाँ राम का निवास नहीं है। “हरिशून्य जगत् को ही उन्होंने इन सब विशेषणों से विभूषित किया है ‘हरिमय जगत्’ को नहीं। विषयोपभोग में लिप्त जीव को विरक्त बनाने के लिए संसार के मिथ्यात्व का निर्देश किया गया है, विषयोपरत एवं भगवदनुरक्त महा—भाग को नहीं। जो जीव स्वार्थ को ही संसार समझते हैं; उनके लिए अवश्य ही गोसाँईजी द्वारा ‘जगन्नमिथ्या’ का सिद्धान्त प्रतिपादित किया गया है, किन्तु जो परार्थ एवं परमार्थ में जगत् की सत्ता स्वीकार करते हैं, उन निष्काम अनासक्त कर्मयोगियों के लिए आपने संसार को ‘जगत् सचाई—सार’ कहकर पुकारा है।”<sup>15</sup> इस प्रकार तुलसीदास ने सिद्धान्तरूप से तो विशिष्टाद्वैतवाद को ही स्वीकार किया है—

“जो तुम त्यागों राम हौं तो नहिं त्यागो। परिहरि पाँय काहि अनुरागों ॥

सुखद सुप्रभु तुम सो जगमाहीं। श्रवन—नयन मन —गोचर नाहीं ॥

हौं जड़ जीव, ईस रघुराया। तुम मायापति, हौं बस माया ॥

हौ तो कुजाचक, स्वामी सुदाता। हौं कुपूत, तुम हितु पितु—माता।।  
जो पै कहूँ कोउ बूझत बातो। तौ तुलसीदास बिनु मोल बिकतो।।”<sup>16</sup>

अर्थात् हे रामजी! यदि आप मुझे त्याग भी देंगे, तो भी मैं आपको नहीं छोड़ूँगा। क्योंकि आपके चरणों को छोड़कर मैं और किसके साथ प्रेम करूँ?। आपके समान सुख देने वाला सुन्दर स्वामी इस संसार में आजतक न कानों से सुना है, न आँखों से देखा है और न मनसे अनुमान में ही आता है। हे रघुनाथजी! मैं जड़ जीव हूँ और आप ईश्वर हैं। आप माया के स्वामी हैं (माया आपके वशमें है) और मैं माया के वश होकर रहता हूँ। मैं तो एक कृतघ्न याचक हूँ और आप बड़े उदार स्वामी हैं मैं आपका कुपूत हूँ और आप हित करने वाले माता—पिता हैं। भाव यह है कि लड़का कुपूत होने पर भी माँ—बाप उसका हित ही चाहते हैं, ऐसे ही आप भी सदा मेरा पालन—पोषण ही किया करते हैं। यदि कहीं कोई भी मेरी बात पूछता, तो यह तुलसीदास बिना ही मोल (उसके हाथ) बिक जाता। (परन्तु आपके सिवा मुझ—सरीखे नीचको कौन रखता है? अतः मैं आपको कभी नहीं छोड़ूँगा)। इस प्रकार तुलसीदास अपने आपको जड़ जीव तथा भगवान् श्रीराम को विशिष्ट ईश्वर समझते हैं और यह भी जानते हैं कि जीव ईश्वर की शरण में आकर कृतकृत्य हो जाता है अतः भगवान् से कहते हैं कि मैं आपके चरणों को छोड़कर और किसके साथ प्रेम करूँ? आपसा समर्थ इस संसार में कोई है ही नहीं। तुलसीदास अपने आराध्य श्रीराम को माता—पिता मानते हैं तथा अपने आपको उनका कुपूत पुत्र। लेकिन भगवान् पर पूर्ण विश्वास है कि कुपूत होते हुए भी भगवान् मेरा हित ही करेंगे। इस प्रकार तुलसीदास लिखते हैं कि अनन्य भाव से प्रभु की शरण में जाना ही जीव के लिए श्रेयस्कर है तथा यही जीवन की सार्थकता है। इसी प्रकार का एक और पद देखिये—

“और मोहि को है, काहि कहिहौं?

रंक—राज ज्यों मनको मनोरथ, केहि सुनाइ सुख लहिहौं।।

जम—जातना, जोनि—संकट सब सहे दुसह अरु सहिहौं।

मोको अगम, सुगम तुमको प्रभु, तउ फल चारि न चहिहौं।।

खेलिबेको खग—मृग, तरु—कंकर हवै।

रावरो राम हौं रहिहौं ।

यहि नाते नरकहूँ सचु या बिनु परमपदहूँ दुख दहिहौं ॥

इतनी जिय लालसा दासके, कहत पानही गहिहौं ॥

दीजै बचन कि हृदय आनिये

तुलसी को पन निर्बहिहौं ॥<sup>17</sup>

अर्थात् हे नाथ! मेरा दूसरा कौन है, मैं (अपने मनकी बात तुम्हें छोड़कर) और किससे कहूँगा? मेरे मन की कामना रंक के राजा होने जैसी है, (हूँ तो मैं निपट साधनहीन, पर चाहता हूँ मोक्ष से भी परे का परमात्मप्रेमसुख। इस स्थिति में तुम—सरीखे दयालु को छोड़कर अपना) वह मनोरथ किसे सुनाकर सुख प्राप्त करूँ? (दूसरा कौन मेरी बात सुनकर पूरी करेगा?) यम—यातना अर्थात् नारकीय क्लेश एवं अनेक योनियों में दारुण दुःख सहे हैं और सहूँगा। (मुझे इसकी कुछ भी परवा नहीं है) हे प्रभो! मुझे अर्थ, धर्म, काम और मोक्ष की भी लालसा नहीं है; यद्यपि मेरे लिये ये दुर्लभ हैं, पर तुम चाहो तो इनको सहज में ही दे सकते हो। हे रामजी! (मेरी मनोकामना तो कुछ दूसरी ही है) मैं तो तुम्हारे हाथ के खिलौने के रूप में पक्षी, पशु, वृक्ष और कंकर—पत्थर होकर ही रहना चाहता हूँ। इस नाते से मुझे (घोर) नरक में भी सुख है और इसके बिना मैं मोक्ष प्राप्त करने पर भी दुःख से जलता रहूँगा (मोक्ष नहीं चाहिये; रखो चाहे नरक में, परन्तु अपने हाथ का खिलौना बनाकर रखो। वह खिलौना चाहे चेतन हो या जड़ पेड़—पत्थर हो, मुझे उसी में परम सुख है)। इस दास के मन में बस एक यही कामना है कि यह सदा तुम्हारी जूती पकड़े रहे (शरण में पड़ा रहे) या तो मुझे वचन दे दो (कि हम तेरी यह कामना पूरी कर देंगे) अथवा इस बात को मन में निश्चय कर लो कि हम तुलसी का यह प्रण निबाह देंगे ॥ इस प्रकार अगर तुलसीदास सिद्धान्त—रूप से जगत् को असत्य मानते होते तो स्वयं 'खग, मृग, तरु' बनने की कामना क्यों करते? पर हां वे 'सिया—राम मय' जगत् को ही सत्य मानते हैं। इस नाते से उन्हें नरक भी सत्य, सारमय और आनन्दप्रद प्रतीत होता है। और, हरिशून्य मोक्ष भी असत्य, असार और दुःखमय जान पड़ता है। इसी प्रकार की एक और प्रार्थना तुलसीदास भगवान राम से करते हैं कि हे प्रभु आप चन्द्रमा बन जाओ और मुझे चकोर बना दो—



"और काहि माँगिये, को माँगिबो निवारै ।  
 अभिमतदातार कौन, दुख-दरिद्र दारै ।  
 धरमधाम राम काम-कोटि-रूप रुरो ।  
 साहब सब बिधि सुजान, दान-खड़ग-सुरो ॥  
 सुसमय दिन द्वै निसान सबके द्वार बाजै ।  
 कुसमय दसरथके । दानि तैं गरीब निवाजै ॥  
 सेवा बिनु गुनबिहीन दीनता सुनाये ।  
 जे जे तैं निहाल किये फूले फिरत पाये ॥  
 तुलसिदास जाचक-रूचि जानि दान दीजै ।  
 रामचंद्र चंद्र तू, चकोर मोहिं कीजै ॥"<sup>18</sup>

अर्थात् हे प्रभो! अब और किसके आगे हाथ फैलाऊँ? ऐसा दूसरा कौन है जो सदा के लिये मेरा माँगना मिटा दे? दूसरा ऐसा कौन मनोवान्छित फलों का देनेवाला है जो मेरे दुःख-दारिद्र्य का नाश कर दे? हे श्रीराम! तू धर्मका स्थान और करोड़ों कामदेवों के सौन्दर्य से भी सुन्दर है। सब प्रकार से मेरा स्वामी है, मन की अच्छी तरह जानता है और दानरूपी तलवार के चलाने में बड़ा शूर है। अच्छे समय में तो दो दिन सभी दरवाजे पर नगारे बजते हैं, परन्तु हे दशरथनन्दन! तू ऐसा दानी है कि बुरे समय में भी गरीबों को निहाल कर देता है। कुछ भी सेवा न करने वाले, अच्छे गुणों से सर्वथाहीन जिन मनुष्यों ने तेरे सामने अपना दुखड़ा सुनाया, उन सबको तैंने निहाल कर दिया, मैंने उन्हें आनन्दसे फूले फिरते पाया है। अब तुलसीदास भिखारी के मनकी जानकार (अर्थात् वह और कुछ भी नहीं चाहता, केवल तेरा प्रेम चाहता है ऐसा जानकर) दान दे और वह यही कि हे श्रीरामचन्द्र! आज चन्द्रमा है ही, मुझे बस चकोर बना ले। इस प्रकार तुलसीदास की केवल एक ही इच्छा है जहाँ भी रहूँ मेरे आराध्य का साथ रहे। तुलसीदास प्रभु श्रीराम के चरणों में अपना स्थान चाहते हैं। जहाँ भी गोसाईंजी ने संसार को असत्य मानकर भ्रम का प्राबल्य दिखाया है, वहाँ भ्रम-निराकरण का एक ही उपाय बताया है और वह है हरि-कृपा। ऐसा क्यों कहा गया है? क्योंकि 'तुम मायापति, हौं बस माया।' अद्वैतवादियों की तरह उन्होंने केवल ज्ञान और योगपर कहीं भी जोर नहीं दिया।

उन्होंने तो 'सावन के अन्धे' की तरह एक स्वर से सदा सगुण उपासना को ही प्रधानता दी है—

“माधव! मो समान जग माहीं।

सब बिधि हीन, मलीन, दीन अति, लीन—विषय कोउ नाहिं।।

तुम सम हेतुरहित कृपालु आरत—हित ईस न त्यागी।

मैं दुख—सोक—बिकल कृपालु! केहि कारन दया न लागी।।

नाहिंन कछु औगुन तुम्हार, अपराध मोर मैं माना।

ग्यान—भवन तनु दियेहु नाथ, सोउ पाय न मैं प्रभु जाना।।

बेनु करील, श्रीखंड बंसतहि दूषन मृषा लगावै।

सार—रहित हत—भाग्य सुरभि, पल्लव सो कहु किमि पावै।

सब प्रकार मैं कठिन, मृदुल हरि, दृढ़ बिचार जिय मोरे।

तुलसीदास प्रभु मोह—सुंखला, छुटिहि तुम्हारे छोरे।।”<sup>19</sup>

अर्थात् हे माधव! संसार में मेरे समान, सब प्रकार से साधनहीन, पापी, अति दीन और विषय—भोगों में डूबा हुआ दूसरा कोई नहीं हैं और तुम्हारे समान, बिना ही कारण कृपा करने वाला, दीन—दुखियों के हितार्थ सब कुछ त्याग करने वाला स्वामी कोई दूसरा नहीं है। भाव यह है कि दीनों के दुःख दूर करने के लिये ही तुम वैकुण्ठ या सच्चिदानंदघन रूप छोड़कर धराधाम में मानवरूप में अवतीर्ण होते हो, इससे अधिक त्याग और क्या होगा? इतने पर भी मैं दुःख और शोक से व्याकुल हो रहा हूँ। हे कृपालु! किस कारण तुमको मुझपर दया नहीं आती? मैं यह मानता हूँ कि इसमें तुम्हारा कुछ भी दोष नहीं है, सब मेरा ही अपराध है। क्योंकि तुमने मुझे जो ज्ञानका भण्डार यह मनुष्य—शरीर दिया, उसे पाकर भी मैंने तुम—सरीखे प्रभु को आजतक नहीं पहचाना। बाँस चन्दन को और करील बसन्त को वृथा ही दोष देते हैं। असल में दोनों हतभाग्य हैं। बाँसमें सार ही नहीं है, तब बेचारा चन्दन उसमें सुगन्ध कहाँ से भर दे? इसी प्रकार करील में पत्ते नहीं होते फिर वसन्त उसे कैसे हरा—भरा कर देगा? (वैसे ही मैं विवेकहीन और भक्तिशून्य कैसे तुमपर दोष लगा सकता हूँ?) हे हरि! मैं सब प्रकार कठोर हूँ, पर तुम तो कोमल स्वभाववाले हो; मैंने अपने मनमें यह निश्चयरूप से विचार कर लिया है कि हे प्रभो! इस तुलसीदास की मोहरूपी बेड़ी तुम्हारे ही छुड़ाने से छूट सकेगी, अन्यथा नहीं। इस प्रकार तुलसीदास

ने सगुण उपासना को ही महत्त्व दिया है। वे अपने आराध्य से प्रार्थना करते हैं कि तुम्हारे काटने से ही मेरी यह मोहरूपी बेड़ी कटेगी अन्यथा और कोई उपाय नहीं है। हे स्वामी! आप मुझे इस भवसागर से पार उतारो तथा इस तुलसीदास को अपने चरणों में स्थान दो। “उन्होंने अद्वैतवादियों की तरह भक्ति और सगुण उपासना को केवल साधनही नहीं माना, वरन् साध्य भी माना है।”<sup>20</sup> इस प्रकार तुलसीदास स्वामी की सर्वशक्तिमता और सामर्थ्य एवं उदारता का गुणगान करते हुए सच्चे हृदय से लिखते हैं—

“भरोसो जाहि दूसरो सो करो।  
मोको तो रामको नाम कलपतरु कलि कल्याण फरो ॥  
करम उपासन, ग्यान, बेदमत, सो सब भाँति खरो।  
मोहि तो ‘सावन के अंधहि’ ज्यों सूझत रंग हरो ॥  
चाटत रह्यो स्वान पातरि ज्यों कबहुँ न पेट भरो।  
सो हौं सुमिरत नाम— सुधारस पेखत परुसि धरो ॥  
स्वारथ औ परमारथ हू को नहि कुंजरो—नरो।  
सुनियत सेतु पयोधि पषाननि करि कपि कटक—तरो ॥  
प्रीति—प्रतीति जहाँ जाकी तहँ ताको काज सरो।  
मेरे तो माय—बाप दोउ आखर, हौं सिसु—अरनि अरो ॥  
संकर साखि जो राखि कहौं कछु तौ जरि जीह गरो।  
अपनो भलो राम—नामहि ते तुलसिहि समुझि परो ॥”<sup>21</sup>

अर्थात् जिसे दूसरे का भरोसा हो, सो करे। मेरे लिये तो इस कलियुग में एक राम—नाम ही कल्पवृक्ष है, जिसमें कल्याणरूपी फल फला है। भाव यह कि राम—नाम से ही मुझे तो यह भगवत्प्रेम प्राप्त हुआ है।। यद्यपि कर्म, उपासना और ज्ञान— ये वैदिक सिद्धान्त सभी सब प्रकार से सच्चे हैं, किन्तु मुझे तो, सावन के अन्धेकी भाँति, जहाँ देखता हूँ वहाँ हरा—ही—हरा रंग दीखता है। (एक राम—नाम ही सूझ रहा है)। मैं कुत्ते की नाई (अनेक जूँठी) पत्तलों को चाटता फिरा, पर कभी मेरा पेट नहीं भरा। आज मैं नाम—स्मरण करने से अमृतरस परोसा हुआ देखता हूँ। (मैंने अनेक देवयोग्य भोग भोगे, परन्तु कहीं तृप्ति नहीं हुई। पूर्ण नित्य परमानन्द कहीं नहीं मिला। अब श्रीराम—नाम का स्मरण करते ही मैं देख रहा हूँ, कि मुक्तिका थाल मेरे

सामने परोसा रखा है अर्थात् ब्रह्मानन्दरूप मोक्ष पर तो मेरा अधिकार ही हो गया। परोसी थाली के पदार्थ को जब चाहूँ तब खा लूँ, इसी प्रकार मोक्ष तो जब चाहूँ तभी मिल जाय। परन्तु मैं तो मुक्त पुरुषोंकी कामना की वस्तु श्रीराम—प्रेम—रसका पान कर रहा हूँ। मेरे लिये राम—नाम स्वार्थ और परमार्थ दोनों का ही साधक है, (मुक्तिरूपी स्वार्थ और भगवत्प्रेमरूपी परम अर्थ दोनों ही मुझे श्रीराम—नाम से मिल गये)। यह बात 'हाथी है या मनुष्य' की—सी दुविधा भरी नहीं है, (क्योंकि मुझे तो प्राप्त है)। मैंने सुना है कि इसी नामके प्रभाव से बंदरोंकी सेना पत्थरों का पुल बनाकर समुद्र को पार कर गयी थी। जहाँ जिसका प्रेम और विश्वास है, वहीं उसका काम पूरा हुआ है। (इसी सिद्धान्त के अनुसार) मेरे तो माँ—बाप ये दोनों अक्षर —'र' और 'म'— हैं। मैं तो इन्हीं के आगे बालहठ से अड़ रहा हूँ, मचल रहा हूँ। यदि मैं कुछ भी छिपाकर कहता होऊँ तो भगवान शिवजी साक्षी हैं, मेरी जीभ जलकर या गलकर गिर जाय। (यह 'कवि—कल्पना' या अत्युक्ति नहीं है, सच्ची स्थिति का वर्णन है) यही समझमें आया कि अपना कल्याण एक राम—नामसे ही हो सकता है।" इस प्रकर तुलसीदास को केवल राम—नाम का ही भरोसा है। उन्हें केवल राम—नाम पर ही विश्वास है क्योंकि राम—नाम ही उन्हें कल्याणरूपी फल देने वाला है। (तुलसीदास का सिद्धान्त है कि जहाँ जिसका प्रेम और विश्वास है, वहीं उसका काम पूरा हुआ है। हे रामजी! आपका नाम ही मेरा तो कल्याण करने वाला है।

“नाम राम रावरोई हित मेरे।

स्वारथ—परमारथ साथिन्ह सों भुज उठाइ कह कहौं टेरे।।

जननी—जनक तज्यो जनभि, करम बिनु बिधिहु सृज्यो अवडरे।

मोहूसो कोउ—कोउ कहत रामहिं को, सो प्रसंग केहि केरे।।

फिरयौ ललात बिनु नाम उदर लागि, दुखउ दुखित मोहि हेरे।

नाम—प्रसाद लहत रसाल—फल अब हौं बबुर बहेरे।।

साधत साधु लोक—परलोकहि, सुनि गुनि जतन घनेरे।

तुलसी के अवलंब नामको, एक गाँठि कइ फेरे।।<sup>22</sup>

अर्थात् हे रामजी! आपका नाम ही मेरा तो कल्याण करनेवाला है। यह बात मैं हाथ उठाकर स्वार्थके और परमार्थ के सभी संगी—साथियों से (परिवार के लोगों से और

साधकों से) पुकारकर कहता हूँ (घोषणा कर रहा हूँ)।। माता-पिता ने तो मुझे उत्पन्न करके ही छोड़ दिया था ब्रह्मा ने भी अभागा और कुछ बेढब-सा बनाया था। फिर भी कोई-कोई मुझे 'रामका' (दास) कहते हैं, यह किस अभिप्रायसे कहते हैं? (यह राम-नाम का ही प्रताप है)। जब मैं राम-नाम के शरण नहीं हुआ था तब मैं पेट भरनेको (द्वार-द्वार पर) ललचाता फिरता था। मेरी और देखकर दुःखको भी दुःख होता था। (मेरी ऐसी बुरी दशा थी)। श्रीराम की कृपा से पहले मेरे लिये जो बबूल और बहेड़ेके वृक्ष थे, उन्हीं पेड़ोंसे मुझे अब आमके फल मिल रहे हैं (जहाँ जगत् दुःखों से भरा भासता था वहाँ आज सब सीय-रामरूप दीखने के कारण वही सुखमय हो गया है)। संतजन तो (शास्त्रों को) सुनकर और (उसके अनुसार) मननकर अनेक साधनों से अपना लोक और परलोक बना लेते हैं, परन्तु तुलसीके तो एक रामनामका ही अवलम्बन है। जैसे गाँठ तो एक ही होती है, लपेटे चाहे जितने हों (इसी प्रकार साधन चाहे जितने हों, सबका आधार तो एक राम-नाम ही है)। इस प्रकार तुलसीदास को सब साधनों का एक ही आधार दिखाई देता है और वह है राम-नाम। तुलसीदास राम नाम को अपने जीवन का अवलम्बन मानते हैं। क्योंकि राम-नाम के प्रभाव से असम्भव भी सम्भव हो जाता है। जो मनुष्य राम-नाम का स्मरण करता है उसका इस कराल कालिकाल में, आदि, मध्य और अन्त, तीनों ही कालों में कल्याण होगा—

“प्रिय रामनामतेँ जाहि न रामो ।

ताको भलो कठिन कलिकालहुँ आदि-मध्य-परिनामो ।।  
 सकुचत समुझि नाम-महिमा मद-लोभ-मोह-कोह-कामो ।  
 राम-नाम-जप-निरत सुजन पर करत छाँह घोर धामो ।।  
 नाम-प्रभाउ सही जो कहै कोउ सिला सरोरुह जामो ।  
 जो सुनि सुमिरि भाग-भाजन भइ सुकृतसील भील-भामो ।।  
 बालमीकि-अजामिलके कछु हुतो न साधन सामो ।  
 उलटे पलटे नाम-महातम गुंजनि जितो ललामो ।।  
 रामतेँ अधिक नाम-करतब, जेहि किये नगर-गत गामो ।  
 भये बाजाइ दहिने जो जपि तुलसिदाससे बामों ।।”<sup>23</sup>

अर्थात् जिसे श्रीरामजी भी राम—नामकी अपेक्षा अधिक प्यारे नहीं है (यदि कोई कहे कि तुम्हे राम मिल जायँगे, पर राम—नाम छोड़ना होगा, तो वह इस बात को भी स्वीकार नहीं करता; वह कहता है कि यदि श्रीरामके मिलनेसे राम—नाम छोड़ना पड़े तो मुझे श्रीरामके मिलनेकी आवश्यकता नहीं है। मुझे तो उनका नाम ही सदा चाहिये। ऐसे नाम—प्रेमीसे राम कितना प्रेम करते हैं, सो तो केवल राम ही जानते हैं, गोसाईंजी कहते हैं कि जो इस प्रकार राम—नामका मतवाला है। उसका इस कराल कलिकाल में, आदि, मध्य और अन्त, तीनों ही कालों में कल्याण होगा। नामकी महिमा समझकर अभिमान, लोभ, अज्ञान, क्रोध ओर काम सकुचा जाते हैं, सामने नहीं आते। जो सज्जन सदा राम—नामका जप करते रहते हैं, उन पर कड़ी धूप भी छाया कर देती है। (महान्—से—महान् दुःख भी सुखरूप बन जाते हैं)। यदि कोई कहे कि नाम के प्रभाव से पत्थर में कमल उत्पन्न हो गया, तो उसे भी सच ही समझना चाहिये। (क्योंकि राम—नाम के प्रभाव से असम्भव भी सम्भव हो जाता है)। जिस नाम को सुनने और स्मरण करनेसे भीलनी शबरी भी परम भाग्यवती तथा शील ओर पुण्यमयी बन गयी (उससे क्या नहीं हो सकता?)। वाल्मीकि और अजामिल के पास तो कोई भी साधन की सामग्री नहीं थी, किन्तु उन्होंने भी उलटे—पुलटे राम नाम के माहात्म्य से घुँघचियों से जवाहरात जीत लिये (परम रत्न परमात्मा को प्राप्त कर लिया)। नाम की शक्ति श्री रघुनाथजी से भी अधिक है, (क्योंकि श्रीरामजी इस नामसे ही वश में होते हैं इस राम—नाम ने ग्रामीण मनुष्यों को चतुर नागरिक बना दिया (असभ्यों को परम पुनीत महात्मा बना दिया) जिसे जपकर तुलसीदास—सरीखे बुरे जीव भी डंके की चोट अच्छे हो गये (फिर कहने को क्या रह गया?)। इस प्रकार तुलसीदास राम—नाम की महिमा का बखान करते हुए थकते नहीं है वे लिखते हैं कि भगवान् राम तो बिना ही कारण दूसरे का हित कर देते हैं। उनके समान दूसरा कौन हो सकता है—

**“अकारन को हितू और को है।**

**बिरद ‘गरीब—निवाज’ कौनको, भौंह जासु जन जोहै ।।**

**छोटो—बड़ो चहत सब स्वास्थ्य, जो बिरंचि बिरचो है।**

**कोल कुटिल, कपि—भालु पालिबो कौन कृपालुहि सोहै ।।**

काको नाम अनख आलस कहें अध अवगुननि बिछोहै ।  
को तुलसीसे कुसेवक संग्रह्यो, सब सब दिन साईं द्रोहै ।।<sup>24</sup>

अर्थात् बिना ही कारण हित करने वाला (श्रीरामचन्द्रजी को छोड़कर) दूसरा कौन है? गरीबों को निहाल कर देने का विरद किसका है कि जिसकी (कृपामयी) भृकुटी की ओर भक्त ताका करते हैं।। छोटे या बड़े जो भी ब्रह्मा के रचे हुए हैं वे सभी अपना स्वार्थ सिद्ध करना चाहते हैं (बिना स्वार्थ के कोई किसी का हित नहीं करता)। भला भील, बंदर और रीछ आदि का पालन-पोषण करना (श्रीराम जी के सिवा) दूसरे किस कृपालु स्वामीको शोभा देता है? ऐसा किसका नाम है जिसे आलस्य या क्रोध के साथ भी लेनेपर पाप और अवगुण दूर हो जाते हैं? (श्रीराम-नाम ही ऐसा है)। जिसने मूर्खतावश सदा अपने स्वामी से द्रोह किया है, उस तुलसी-सरीखे नीच सेवक को भी अपना लिया। (इससे अधिक अकारण हित करना और क्या होगा?)। इस प्रकार तुलसीदास को केवल अपने राम-नाम पर ही भारी भरोसा है जो अकारण ही दूसरे का हित कर देते हैं।

**निष्कर्ष :-** तुलसीदास ने विनय-पत्रिका में जिस सिद्धान्त को अपनाया है वह रामानुजाचार्य के विशिष्टाद्वैतवाद से मेल खाता है। विनयपत्रिका में उनका रूप भावात्मक है और वे सिद्धान्त तुलसी के प्रेम, विश्वास तथा भक्ति को पाकर जमगमा उठे हैं। "भक्ति उनके लिए कोई 'पद्धति या पन्थ' नहीं, उनका जीवन ही है।"<sup>25</sup> भक्ति जब जीवन की साधना बन जाती है तब वह भक्त को पूर्णकाम, तृप्त, अमर और सिद्ध बना देती है। भक्त समस्त जीवन-द्वन्द्वों से मुक्त हो जाता है। वह भगवान् से अहेतुक प्रेम करता है। वह जगत् के सारे रागात्मक सम्बन्धों को अपने इष्टदेव में ही लय कर देता है। सारा संसार उसके लिए प्रभुमय हो जाता है। उसके समस्त सांसारिक सम्बन्ध इष्टदेव के नातेसे ही मानने योग्य रह जाते हैं भगवदीयता का लक्षण है प्रभु के प्रति सहज आसक्ति सर्वतोभावेन समर्पण। तुलसी के लिए समस्त सांसारिक सम्बन्धों का लक्ष्य रामोन्मुखता ही है। इस एकान्त समर्पण में भक्ति की अन्न्यता और निष्ठा का रूप दर्शनीय है :-

“यह बिनती रघुबीर गुसाईं ।

और आस-बिश्वास-भरोसो,हरो जीव-जड़ताई ।।

चहौं न सुगति, सुमति, संपति कछु,रिधि—सिधि बिपुल बड़ाई ।

हेतु—रहित अनुराग राम—पद बढै अनुदिन अधिकाई ॥

कूटिल करम लै जाहिं मोहि जहँ जहँ अपनी बरिआई ।

तहँ तहँ जनि छिन छोह छाँडियो, कमठ—अंडकी नाई ॥

या जगमें जहँ लागि या तनुकी प्रीति प्रतीति सगाई ।

ते सब तुलसीदास प्रभु ही सो होहिं सिमिटि इक ठाई ॥”<sup>26</sup>

अर्थात् हे श्रीरघुनाथजी! हे नाथ! मेरी यही विनती है कि इस जीव को दूसरे साधन, देवता या कर्मों पर जो आशा, विश्वास और भरोसा है, उस मूर्खता को आप हर लीजिये। हे राम! मैं शुभगति, सद्बुद्धि, धन—सम्पत्ति, ऋद्धि—सिद्धि और बड़ी भारी बड़ाई आदि कुछ भी नहीं चाहता। बस, मेरा तो आपके चरण—कमलों में दिनोंदिन अधिक—से—अधिक अनन्य और विशुद्ध प्रेम बढ़ता रहे, यही चाहता हूँ। मुझे अपने बुरे कर्म जबरदस्ती जिस—जिस योनि में ले जायँ, उस—उस योनि में ही हे नाथ! जैसे कछुआ अपने अंडों को नहीं छोड़ता, वैसे ही आप पलभर के लिये भी अपनी कृपा न छोड़ना। हे नाथ! इस संसार में जहाँ तक इस शरीर का (स्त्री—पुत्र—परिवारादिसे) प्रेम, विश्वास और सम्बन्ध है, सो सब एक ही स्थान पर सिमटकर केवल आपसे ही हो जाय। इस प्रकार तुलसीदास अपने आराध्य श्रीरामसे बार—बार यही प्रार्थना करते हैं कि हे प्रभु अगर मैं किसी और को अपना सहारा मानने लगूँ तो आप मेरी उस मूर्खता को दूर कर देना। हे प्रभु मुझे कुछ भी नहीं चाहिए इस संसार से केवल आपके चरणों की भक्ति तथा आपसे अनन्य प्रेम चाहिए। मुझे जिस भी योनि में जगह मिले हे नाथ! आप अपनी कृपा मुझ पर बनाए रखना। मेरा जितना भी प्रेम सांसारिक वस्तुओं में है वो सब एकत्रित होकर केवल आपसे हो जाय अर्थात् आपसे प्रेम करूँ और किसी से भी नहीं। इस प्रकार तुलसीदास जगत् के सारे रागात्मक सम्बन्धों को अपने इष्टदेव में ही लय कर देना चाहते हैं। तुलसीदास ने विनय—पत्रिका में ब्रह्म को विशिष्ट तथा सर्वव्यापक माना है तथा जीव को तुच्छ तथा निम्न माना है। तुलसीदास की ब्रह्म, जीव, जगत्, तथा माया सम्बन्धी धारणा निम्न प्रकार है: —



## 1 ब्रह्म :-

तुलसीदास ने ब्रह्म को विशिष्ट माना है तथा जीव भक्ति के माध्यम से ब्रह्म की शरण प्राप्त करता है। ब्रह्म तथा जीव एक नहीं होते। ब्रह्म, ईश्वर, (सगुण, राम) विशिष्ट होता है तथा चित् (जीव) व अचित् (जगत्) ब्रह्म का अंश मात्र है। जीव व ब्रह्म दोनों ही सत्य है किन्तु दोनों समान रूप से स्वतन्त्र नहीं हैं। जीव ब्रह्म से भिन्न उसका अंश मात्र है। ईश्वर, जीव और जगत् तीनों ही सत्य है तथा भक्ति द्वारा जीव को मोक्ष प्राप्त होता है। जीव जब तक ब्रह्म की शरण में नहीं आता तब तक उसका परम कल्याण हो नहीं सकता।

**राम (ब्रह्म):-** तुलसी के राम सच्चिदानन्द हैं। उनके दो रूप हैं— निर्गुण और सगुण। तुलसी ने राम के सगुण रूप की उपासना की है। सगुण रूप में वे नरदेह—धारी भूप—रूप दाशरथि हैं—

**“अमल, अनवद्य, अद्वैत, निर्गुण, सगुण, ब्रह्मसुमिरामि नरभूप—रूपं।।”<sup>27</sup>**

अर्थात् निर्मल, निर्दोष, अद्वैतरूप, वास्तव में निर्गुण, माया को साथ लेकर सगुण, परब्रह्म नररूप राजराजेश्वर श्रीरामका मैं स्मरण करता हूँ। इस प्रकार तुलसी के राम निर्गुण व सगुण दोनों रूपों में विद्यमान हैं। उनकी माया का परिणाम ही यह संसार है। माया (अज्ञान) का आवरण हटते ही जीव को ब्रह्म का सादृश्य प्राप्त हो जाता है। तुलसी के राम क्षीरसागर निवासी विष्णु भी हैं इसी से पुराणों में विष्णु के जितने अवतार हैं वे सब प्रकारांतर में राम के ही अवतार हैं—

**“उरगनायक—शयन, तरुणपंकज—नयन, छीरसागर—अयन, सर्ववासी।।”<sup>28</sup>**

अर्थात् आप शेषनाग पर शयन करते हैं, आपके नेत्र अत्यन्त प्रफुल्लित कमल के समान हैं। आप व्यक्तरूपसे क्षीर—सागर में निवास करते हैं। और अव्यक्त रूप से सबमें रहते हैं। इस प्रकार तुलसी के राम विष्णु का अवतार ही हैं।

**“वामनाव्यक्त, पावन, परावर, विभो, प्रकट परमात्मा, प्रकृति—स्वामी”<sup>29</sup>**

अर्थात् भगवान् विष्णु—वामन रूप धरनेवाले, मन—इन्द्रियोंसे अव्यक्त, पवित्र (विकाररहित), जड़—चेतन और लोक—परलोक के स्वामी, साक्षात् परमात्मा और प्रकृति के स्वामी हैं। इस प्रकार तुलसी के राम वामन—रूप धारण करने वाले हैं तथा सम्पूर्ण जड़—चेतन के स्वामी हैं।

**“वृष्णि—कुल—कुमुद—राकेश राधारमण, कंस —बंसाटवी—धुमकेतू।।”<sup>30</sup>**

अर्थात् जो वृष्णिवंशरूपी कुमुदिनी को प्रफुल्लित करने वाले चन्द्रमा, राधाजी के पति और कंसादि के वंशरूपी वनको जलाने के लिए अग्निस्वरूप थे। इस प्रकार राम कृष्ण के रूप में भी अवतरित हुए थे। भगवान् राम अपने भक्त की प्रतिज्ञा रखने के लिए कुछ भी कर सकते हैं—

**“दितिसुत—त्रास —त्रसित निसिदिन प्रह्लाद—प्रतिग्या राखी।।”<sup>31</sup>**

अर्थात् हिरण्यकशिपु से रात—दिन भयभीत रहने वाले प्रह्लाद की प्रतिज्ञा आपने रखी। तुलसीदास भी भगवान् राम से यही प्रार्थना करते हैं कि हे प्रभु मुझे भी आपके चरणों में शरण मिल जाए। तुलसीदास राम के परे कुछ देखना ही नहीं चाहते। या वे राम को देखते हैं या राम के शरणागत भक्तवत्सल रूप को। तुलसीदास बिन्दुमाधव को भी राम कहते हैं। उनके राम विष्णु के भी अवतार हैं तथा कृष्ण के भी अवतार हैं। अवतार लेने के कारण अनेक हैं लेकिन विनयपत्रिका में भगवान् के भक्तवत्सल रूप की ही प्रधानता है।

**“जब जब जग—जाल ब्याकुल करम काल,सब खल भूप भये भूतल—भरन।**

**तब तब तनु धरि, भूमि—भार दूरि करि थापे मुनि, सुर, साधु, आस्त्रम, बरन।।”<sup>32</sup>**

अर्थात् जब—जब साधु (संत और गौ—ब्राह्मण) काल और कर्म के वश हो जगजालमें फँसकर व्याकुल हुए और सब दुष्ट राजा पृथ्वी पर भारस्वरूप हुए, तब—तब आपने अवतार (शरीर) धारण कर (दुष्टों का संहार कर) पृथ्वी का भार दूर कर दिया और मुनि, देवता, संत एवं वर्णाश्रम—धर्म की पुनः स्थापना की। इस प्रकार विनय—पत्रिका में तुलसी ने राम के भक्त—वत्सल रूप को ही प्रधानता दी है। तुलसी के राम भक्त के लिए कुछ भी कर सकते हैं। इस प्रकार तुलसीदास राम को उच्च तथा सर्वव्यापक मानते हैं। तुलसी जीव और ब्रह्म के सम्बन्ध में अपेक्षा—भाव रखते हैं तथा लिखते हैं कि मनुष्य (जीव) जड़ है, तुच्छ है तथा राम (ब्रह्म) ईश्वर हैं, विशिष्ट हैं। ईश्वर मायापति हैं और जीव (मनुष्य) माया के जाल में फंसा रहता है। जब जीव पर ईश्वर की अनुकंपा होती है तभी माया का बन्धन कटता है तथा जीव को ईश्वर का सामिप्य प्राप्त होता है। भक्ति के माध्यम से ही जीव ईश्वर की शरण में जाता है। जीव ब्रह्म का ही अंश है परन्तु माया के वशीभूत होकर वह अपने वास्तविक स्वरूप को भूल जाता है तथा इस असत्य संसार को ही सत्य मान बैठता है तथा

नाना प्रकार के दुःखों को भोगता है लेकिन जब जीव को भक्ति प्राप्त होती है तो सब मायावी बन्धन कटने लगते हैं तथा सत्य जगत् असत्य प्रतीत होता है। वह सांसारिक बन्धनों से छूटकर हरि की शरण में चला जाता है तथा अब उसे सारा संसार ईश्वरमय भासता है। इस प्रकार तुलसीदास ब्रह्म को विशिष्ट तथा सर्वव्यापक मानते हैं तथा जीव को तुच्छ तथा असमर्थ समझते हैं लेकिन वही जीव भक्ति के माध्यम से ईश्वर की शरण में चला जाता है तथा ईश्वर का सानिध्य प्राप्त कर लेता है।

## 2 सृष्टि या जगत्—

जगत् वस्तुतः राम—रूप है। यह माया का ब्रह्म पर आवरण मात्र ही है। राम स्वतः जगत् है—

“आदिमध्यांत, भगवंत! त्वं सर्वगतमीश, पश्यन्ति ये ब्रह्मवादी।

यथा पट—तंतु घट—मत्रिका, सर्प—स्त्रग दारु करि, कनक—कटकांगदादी।।”<sup>33</sup>

अर्थात् हे भगवन्! आप ही आदि, मध्य और अन्त हैं। आप सबमें व्याप्त हैं। हे ईश! ब्रह्मवादी ज्ञानीजन आपको सबमें ऐसे ओत—प्रोत देखते हैं, जैसे वस्त्र में सूत, घड़े में मिट्टी, सर्प में माला, लकड़ी के बने हुए हाथी में लकड़ी और कड़े, बाजू आदि गहनों में सोना ओत—प्रोत है। इस प्रकार तुलसीदास राममय जगत् को ही सत्य मानते हैं तथा जहां पर भगवान् राम है वो तो नरक भी सत्य, सारमय और आनन्दप्रद प्रतीत होता है और हरिशून्य मोक्ष भी असत्य, असार और दुःखमय देख पड़ता है। इसलिए जहाँ हम इस जगत् को राम से भिन्न समझते हैं वहाँ—वहाँ हम गलती करते हैं। केवल एक रामतत्त्व है। राम के सम्बन्ध से तो जगत् शून्य मात्र है—

“जगनभ—बाटिका रही है फलि फूलि रे।

धुवाँ कैसे धौरहर देखि तू न भूलि रे।।”<sup>34</sup>

अर्थात् यह जगत् भ्रम से आकाश में फले—फूले दिखनेवाले बगीचे के समान सर्वथा मिथ्या है, धुएँ के महलों की भाँति क्षण—क्षण में दीखने और मिटने वाले इन सांसारिक पदार्थों को देखकर तू भूल मत। इस प्रकार तुलसीदास बार—बार एक ही प्रार्थना करते हैं कि हे जीव इस संसार को सत्य मत समझ यह तो ईश्वर की माया

है जो तुझे यह संसार सत्य प्रतीत हो रहा है। तुझे अगर इस संसार रूपी समुद्र से पार उतरना है तो श्रीराम नाम का ही सहारा रख क्योंकि श्री राम नाम रूपी नाव पर बैठकर ही इस भयानक संसाररूपी समुद्र से पार उतरा जा सकता है। इस जगत् का सुख-दुख 'सपनों के संताप' की तरह है—

**“सोवत सपनेहूँ सहै संसृति-संताप रे।”<sup>35</sup>**

अर्थात् (जागने के समय ही नहीं) तू सोते समय सपने में भी संसार के कष्ट ही सह रहा है। इस प्रकार तुलसी जीव को आगाह कर रहे हैं कि राम के बिना यह जगत् असत्य है और मनुष्य राम भक्ति बिना इस असत्य संसार के कष्टों को स्वप्न में भी सहता रहता है। हरिभक्ति के बिना सांसारिक कष्टों से निवारण सम्भव नहीं है। तुलसीदास लिखते हैं कि कोई इस संसार को सत्य कहता है, कोई मिथ्या बतलाता है और कोई सत्यमिथ्या से मिला हुआ मानता है, लेकिन तुलसीदास के मत से ये तीनों ही भ्रम हैं और जो इन भ्रमों से निवृत्त हो जाता है, वही ईश्वर के रूप तथा उसकी लीला को जान पाता है—

**“केशव! कहि न जाइ का कहिये।**

**देखत तव रचना विचित्र हरि! समुझि मनहिं मन रहिये ॥**

**सून्य भीति पर चित्र, रंग नहिं, तनु बिनु लिखा चितेरे।**

**धोये मिटइ न मरइ भीति, दुख पाइय एहि तनु हेरे ॥**

**रविकर-नीर बसै अति दारुन मकर रूप तेहि माहीं।**

**बदन-हीन सो ग्रसै चराचर, पान करन जे जाहीं ॥**

**कोउ कह सत्य, झूठ कह कोऊ, जुगल प्रबल कोउ मानै।**

**तुलसिदास परहरै तीन भ्रम, सो आपन पहिचानै ॥”<sup>36</sup>**

अर्थात् हे केशव! क्या कहूँ? कुछ कहा नहीं जाता। हे हरे। आपकी यह विचित्र रचना देखकर मन-ही-मन (आपकी लीला) समझकर रह जाता हूँ ॥ कौसी अद्भुत लीला है कि इस (संसाररूपी) चित्र को निराकार (अव्यक्त) चित्रकार (सृष्टिकर्ता परमात्मा) ने शून्य (माया की) दीवार पर बिना ही रंग के (संकल्प से ही) बना दिया। (साधारण स्थूल-चित्र तो धोने से मिट जाते हैं, परन्तु) यह (महामायावी-रचित माया-चित्र) किसी प्रकार धोने से नहीं मिटता। (साधारण चित्र जड़ है, उसे मृत्यु

का डर नहीं लगता परन्तु) इसको मरण का भय बना हुआ है। (साधारण चित्र देखने से सुख मिलता है परन्तु) इस संसाररूपी भयानक चित्र की ओर देखने से दुःख होता है।। सूर्य की किरणों में (भ्रम से) जो जल दिखायी देता है उस जल में एक भयानक मगर रहता है; उस मगर के मुँह नहीं है, तो भी वहाँ जो भी जल पीने जाता है चाहे वह जड़ हो या चेतन, यह मगर उसे ग्रस लेता है। भाव यह कि संसार सूर्य की किरणों में जल के समान भ्रम—जनित है। जैसे सूर्य की किरणों में जल समझकर उनके पीछे दौड़नेवाला मृग जल न पाकर प्यासा ही मर जाता है, उसी प्रकार इस भ्रमात्मक संसार में सुख समझकर उसके पीछे दौड़नेवालों को भी बिना मुखका मगरयानि निराकार काल खा जाता है। इस संसार को कोई सत्य कहता है, कोई मिथ्या बतलाता है और कोई सत्य—मिथ्या से मिला हुआ मानता है; तुलसीदास के मत से तो (ये तीनों ही भ्रम हैं) जो इन तीनों भ्रमों से निवृत्त हो जाता है (अर्थात् सब कुछ परमात्मा की लीला ही समझता है) वही अपने असली स्वरूप को पहचान सकता है।। इस प्रकार तुलसीदास ने इस 'हरिशून्य' जगत् को भ्रमजनित सूर्य की किरणों में जल के समान बताया है तथा निराकार काल को मगर के समान बताया है। जो मनुष्य इस संसार को सत्य समझकर इसके पीछे दौड़ते हैं वो असमय मारे जाते हैं। लेकिन जो इस संसार को ईश्वर की लीला समझता है तथा हरि—भक्ति को ही अपना ध्येय समझता है वह इस संसार में रहते हुए भी ईश्वर का सानिध्य प्राप्त कर सकता है तथा जीव जो कि ब्रह्म का ही अंश है। प्रभुकृपा से अपने असली स्वरूपको पहचान सकता है। इस प्रकार तुलसीदास ने विषयोपभोग में लिप्त जीव को विरक्त बनाने के लिए संसार के मिथ्यात्व का निर्देश किया है। जो जीव स्वार्थ को ही संसार समझते हैं उनके लिए जगत् मिथ्या है लेकिन जो जीव विषयोपरत एवं भगवदनुरक्त महा—भाग है उनके लिए जगत् सत्य है क्योंकि जगत् में रहकर ही ईश्वर की अराधना की जाती है तथा भक्ति जैसे मार्ग को अपनाकर ईश्वर की शरण प्राप्त की जाती है। भक्ति के माध्यम से जीव को यह संसार ईश्वरमय भासता है। इस प्रकार तुलसीदास के अनुसार ब्रह्म जीव तथा जगत् तीनों ही सत्य है तथा हरि भक्ति के माध्यम से जीव जगत् में रहता हुआ ईश्वर के समीप पहुँचता है। जीव को जगत् जब संताप की तरह लगता है तो उसके मूल में

ब्रह्म और जगत् की द्विविध सत्ता के सम्बन्ध में भ्रम होता है। इस भ्रम को तुलसी विस्तार के साथ इस प्रकार रखते हैं—

“हे हरि! कस न हरहु भ्रम भारी।

जद्यपि मृषा सत्य भासै जबलगि नहिं कृपा तुम्हारी।।

अर्थ अबिद्यमान जानिय संसृति नहिं जाइ गोसाईं।

बिन बाँधे निज हठ सठ परबस परयो कीकी नाई।।

सपने ब्याधि बिबिध बाधा जनु मृत्यु उपस्थित आई।

बैद अनेक उपाय करै जागे बिनु पीर न जाई।।

श्रुति—गुरु साधु—समृति—संमत यह दृश्य असत दुखकारी।

तेहि बिनु तजे, भजे बिनु रघुपति, बिपति सकै को टारी।।

बहु उपाय संसार—तरन कहँ, बिमल गिरा श्रुति गावै।

तुलसीदास मैं—मोर गये बिनु जिउ सुख कबहुँ न पावै।।”<sup>37</sup>

अर्थात् हे हरे! मेरे इस (संसार को सत्य ओर सुखरूप आदि मानने के) भारी भ्रमको क्यों दूर नहीं करते? यद्यपि यह संसार मिथ्या है, असत है, तथापि जब तक आपकी कृपा नहीं होती, तब तक तो यह सत्य—सा ही भासता है। मैं यह जानता हूँ कि (शरीर—धन—पुत्रादि) विषय यथार्थ में नहीं है, किन्तु हे स्वामी! इतने पर भी इस संसार से छुटकारा नहीं पाता। मैं किसी दूसरे द्वारा बाँधे बिना ही अपने ही हठ (मोह)—से तोते की तरह परवश बंधा पड़ा हूँ (स्वयं अपने ही अज्ञान से बँध—सा गया हूँ)। जैसे किसी को स्वप्न में अनेक प्रकार के रोग हो जायँ जिनसे मानो उसकी मृत्यु ही आ जाय और बाहर से वैध अनेक उपाय करते रहें, परन्तु जब तक वह जागता नहीं तबतक उसकी पीड़ा नहीं मिटती। (इसी प्रकार माया के भ्रम में पड़कर लोग बिना ही हुए संसार की अनेक पीड़ा भोग रहे हैं और उन्हें दूर करने के लिये मिथ्या उपाय कर रहे हैं पर तत्त्वज्ञान के बिना कभी इस पीड़ाओं से छुटकारा नहीं मिल सकता)। वेद, गुरु, संत और स्मृतियाँ—सभी एक स्वर से कहते हैं कि यह दृश्यमान जगत् असत् है (और काल्पनिक सत्ता मान लेने पर) दुःख रूप है। जब तक इसे त्यागकर श्रीरघुनाथ जी का भजन नहीं किया जाता तब तक ऐसी किसकी शक्ति है जो इस विपत्ति का नाश कर सके। वेद निर्मल वाणी से संसारसागर से पार होने के अनेक उपाय बतला रहे हैं, किन्तु हे तुलसीदास! जब तक ‘मैं’ और

‘मेरा’ दूर नहीं हो जाता—अहंता—ममता नहीं मिट जाती, तब तक जीव कभी सुख की प्राप्ति नहीं कर सकता। इस प्रकार तुलसीदास अपने आराध्य श्रीराम से प्रार्थना करते हैं कि प्रभु मेरे भ्रम को दूर करो मैं इस संसार को असत्य मानता हूँ लेकिन जब तक आपकी कृपा नहीं होगी मैं इस संसार के मायाजाल से बाहर नहीं निकल सकता अर्थात् शरीर—धन—पुत्रादि विषयों को सत्य समझकर इस संसार से बिना बाँधे ही बँध गया हूँ। अज्ञान के कारण इस संसार से छुटकारा नहीं पा सकता। लेकिन जब प्रभु की कृपा होती है तो सभी अज्ञान रूपी बन्धन अपने आप कटने लगते हैं तथा सांसारिक पीड़ाओं से मुक्ति मिलने लगती हैं। जब जीव प्रभु कृपा से हरिभजन करता है, ईश्वर की आराधना करता है, उसकी भक्ति करता है तो मनुष्य (जीव) की अहंता—ममता मिटने लगती है तथा उसकी सभी विपत्तियों का नाश होने लगता है तथा जो यह दृश्यमान जगत् उसे सत्य लग रहा था वह उसे असत्य लगने लगता है तथा जीव ईश्वर की शरण में जाकर धन्य हो जाता है, कृतकृत्य हो जाता है। इस प्रकार तुलसीदास ने हरिशून्य जगत् को असत्य कहा है तथा हरिकृपा के माध्यम से ही जीव इस संसार रूपी भवसागर से पार जा सकता है तथा हरिमय जगत् को सत्य माना है और संसार में रहकर मनुष्य हरि की भक्ति प्राप्त कर सकता है तथा भक्ति के माध्यम से ईश्वर का सामिप्य प्राप्त किया जा सकता है। इस प्रकार जो ईश्वर की मायाहै वही जगत् है तथा उस मायापति के आशीर्वाद से ही इस माया से छुटकारा मिलता है।

### 3 माया :-

ब्रह्म और जगत् की द्विविध सत्ता के सम्बन्ध में जो भ्रम है। इसी भ्रम को तुलसीदास ने माया कहा है। यही जीव का बंधन है। भगवान् की कृपा से ही इसका बन्धन कटता है—

**“तुलसीदास येहि जीव मोह—रजु, जेहि बाँध्यो सोइ छोरै।”<sup>38</sup>**

अर्थात् हे तुलसीदास! जिसने इस जीव को मोह की डोरी में बाँधा है वही इसे छुड़ावेगा। इस प्रकार तुलसीदास लिखते हैं कि यह माया का पाश अत्यन्त कड़ा है, भगवान् की कृपा के बिना इससे छूटना असम्भव है। जीव इस जगत् को सत्य समझकर अनेक कष्ट सहता है लेकिन जब हरिकृपा होती है तो जीव भक्ति के माध्यम से अपने आराध्य की शरण प्राप्त करता है तथा उसके सभी सांसारिक बन्धन

अपने आप कट जाते हैं तथा जीव मुक्त हो जाता है। जीव को सम्पूर्ण संसार हरिमय भासता है। लेकिन जब तक हरि की दया नहीं होती तब तक इससे पार पाना असम्भव है क्योंकि हरि की माया बड़ी विचित्र (दुस्तर) है। तुलसी लिखते हैं—

“माधव! असि तुम्हारि यह माया ।

करि उपाय पचि मरिय, तरिय नहिं, जब लगि करहु न दाया ॥

सुनिय, गुनिय, समुझिय, समुझाइय, दसा हृदय नहिं आवै ।

जेहि अनुभव बिनु मोहजनित भव दारुन बिपति सतावै ॥

ब्रह्म—पियूष मधुर सीतल जो पै मन सो रस पावै ।

तौ कत मृगजल —रूप विषय कारन निसि—बासर धावै ॥

जेहिके भवन बिमल चिंतामनि, सो कत काँच बटोरै ।

सपने परबस परै, जागि देखत केहि जाइ निहोरै ॥

ग्यान—भगति साधन अनेक, सब सत्य, झूठ कछु नाहीं ।

तुलसीदास हरि—कृपा मिटै भृम, यह भरोस मनमाहीं ॥”<sup>39</sup>

अर्थात् हे माधव! तुम्हारी यह माया ऐसी (दुस्तर) है कि कितने ही उपाय करके पच मरो, पर जब तक तुम दया नहीं करते तब तक इससे पार पा जाना असम्भव ही है। सुनता हूँ, विचारता हूँ, समझता हूँ तथा दूसरों को समझाता हूँ, पर तुम्हारी इस माया का यथार्थ रहस्य समझ में नहीं आता और जबतक इसके वास्तविक रहस्य का अनुभव नहीं होता, तबतक मोहजनित संसार की महान् विपत्तियाँ दुःख देती ही रहेंगी। ब्रह्मामृत बड़ा ही मधुर और शान्तिकर है, यदि मन को वह अमृतरस कहीं चखने को मिल जाय, तो फिर यह विषयरूपी झूठे मृगजल के लिये क्यों रात—दिन भटक्ता फिरे। जिसके घर में ही निर्मल चिन्तामणि विद्यमान है, वह काँच क्यों बटोरेगा? भाव यह है कि जिसे ब्रह्मानन्द प्राप्त हो गया, वह मायिक विषयानन्द की ओर क्यों ताकने लगा? जैसे कोई सपने में किसी के पराधीन हो जाय और (छूटने के लिये उससे) विनय करे, पर जब जाग जाय तब वह किसी से क्यों निहोरा करेगा?। ज्ञान, भक्ति आदि अनेक साधन हैं और सभी सच्चे हैं, इनमें झूठ एक भी नहीं। परन्तु तुलसीदास मन में तो इसी बात का भरोसा है कि अज्ञान का नाश केवल श्रीहरि—कृपा से ही हो सकता है। अर्थात् भगवत्कृपा ही परम साधन है और वह सब जीवोंपर है ही, केवल उस पर भरोसा या परम विश्वास करना चाहिये। इस



प्रकार तुलसीदास माया के बन्धन से छुटकारा पाने का केवल और केवल एक ही उपाय मानते हैं और वह है भगवान् की कृपा । भगवान् की कृपा दृष्टि प्राप्त होने पर जीव के मायावी बन्धन कटने लगते हैं तथा जब जीव व ब्रह्म विषयक द्वैत का नाश हो जाता है तब माया का परिहार हो जाता है। इस प्रकार जीव ईश्वर की कृपा पाकर ब्रह्म का सानिध्य प्राप्त करता है।

#### 4 जीव :-

जीव वास्तव में ईश्वर (ब्रह्म) का अंश ही है किन्तु माया के आवरण के कारण वह ईश्वर को अपने से अलग मानता है। तुलसीदास लिखते हैं कि

**"हैं जड़ जीव, ईस रघुराया ।। तुम मायापति, हों बस माया।"<sup>40</sup>**

अर्थात् हे रघुनाथ जी! मैं जड़जीव हूँ और आप ईश्वर हैं। आप माया के स्वामी हैं (माया आपके वश में है) और मैं माया के वश होकर रहता हूँ। अज्ञान व अभक्ति के कारण मैं अपने आपको नहीं पहचान सकता लेकिन जब भगवद् अनुग्रह से भक्ति प्राप्त होती है तो मनुष्य के सब मायावी बंधन कटने लगते हैं तथा जीव का जीवन ईश्वरमय हो जाता है। जीव (आत्मा) और ईश्वर (परमात्मा) एक हो जाते हैं अर्थात् जीव को ईश्वर का सादृश्य प्राप्त हो जाता है।

**तुलसीदास के अनुसार जीव, ब्रह्म जगत् तथा माया सम्बन्धी विचार:-**

#### 1 जीव

जीव वास्तव में ईश्वर (ब्रह्म) का अंश ही है किन्तु अज्ञान और 'अभक्ति' के कारण उसे अपने वास्तविक रूप का ज्ञान नहीं रह गया है और इसी कारण वह देहाभिमानी हो गया है, जिसके फलस्वरूप वह विषयों में आसक्त होकर सांसारिक दुःखों को भोगता रहता है। उसका जीवन अनेक प्रकार के कष्टों से संतप्त बना रहता है। अस्तु, जब तक जीव को भगवान् राम की शरण में जाकर अपने स्वरूप का ज्ञान न होगा तब तक वह 'त्रिविध' सन्ताप में जला करेगा तथा आधि-व्याधियों से घिरा रहकर अति दारुण दुःख का भागी होगा। जीव का इस संसार सागर से बाहर निकलने के लिए भगवान् राम (ब्रह्म) के चरणों की कृपा अपेक्षित है जिनसे वह इन भव-संतापों से मुक्ति-लाभ कर सके और ईश्वर से प्रेम कर सके। ईश्वर की कृपा प्राप्त करने के लिए जीव को भक्ति का मार्ग अपनाना होता है। भक्ति के माध्यम से ही जीव ईश्वर की शरण प्राप्त करता है तथा धन्य हो जाता है। जीव

मोह—मुग्ध होकर कर्म—बन्धन में बंधा रहता है, जिसके परिणामस्वरूप वह अनेक विध—क्लेश सहन करता है। उसकी मुक्ति का साधन रामकृपा के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। इस प्रकार भक्त होने के कारण तुलसीदास अद्वैतवाद की इस स्थापना से सहमत नहीं हैं कि वस्तुतः जीव भी ब्रह्म ही है। वे जीव और ब्रह्म की पृथक् सत्ता स्वीकार करते हुए विनय—पत्रिका में कहते हैं कि जीव का नाना प्रकार के दैहिक, दैविक और भौतिक तापों से संतप्त रहने का मूल कारण प्रभु से विमुख होना है, उनका साक्षात्कार न होना है। अतएव जब तक जीव को प्रभु का साक्षात्कार नहीं होता, तब तक उसके न तो अज्ञान का नाश होगा और न आवागमन तथा कष्टों से मुक्ति मिलेगी। इससे सिद्ध होता है कि यहां पर तुलसीदास विशिष्टाद्वैत आदि भक्ति दर्शनों से प्रभावित हैं, जिनमें जीव की सत्ता ईश्वर से भिन्न और अनादि स्वीकार की गयी है। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि विनयपत्रिका, मुख्यतः भगवान् राम के प्रति भक्त कवि तुलसीदास का आवेदन पत्र है, जिसमें उन्होंने अपने पाप—शमन और शुद्ध मन होने के साथ—साथ भक्ति की याचना की है। अतः उसमें दर्शन के किसी सिद्धांत का विशेष आग्रह न होकर भक्त—हृदय का निश्छल एवं भावप्रवण रूपही अपने पूर्ण दैन्य के साथ मूर्त, दृष्टिगोचर होता है। अतएव उसमें सर्वत्र भक्ति ही भक्ति है। भक्ति के माध्यम से जीव को ब्रह्म की शरण में जाने का रास्ता बताया गया है जिसको प्राप्त कर जीव धन्य हो जाता है। जीवन ईश्वरमय हो जाता है। भक्त और भगवान् एक हो जाते हैं अर्थात् सादृश्य प्राप्त हो जाता है।

## 2 ब्रह्म —

तुलसीदास ने राम को ही परम तत्त्व अथवा ब्रह्म के रूप में स्वीकार किया है। ब्रह्म (ईश्वर, सगुण) विशिष्ट होता है तथा चित् (जीव) व अचित् (जगत्) ब्रह्म का अंश मात्र है जीव व ब्रह्म दोनों ही सत्य हैं किन्तु दोनों समान रूप से स्वतन्त्र नहीं है। जीव ब्रह्म से भिन्न उसका अंश मात्र है। ईश्वर, जीव, जगत् तीनों ही सत्य है तथा भक्ति द्वारा जीव को ईश्वर का सादृश्य प्राप्त हो जाता है लेकिन मुक्ति की अवस्था में भी जीव ईश्वर (ब्रह्म) के अधीन रहता है। ब्रह्म समर्थ, सर्वव्यापक तथा सर्वोपरि है। तुलसीदास ने सम्पूर्ण विनय—पत्रिका में राम नाम की महत्ता तथा सर्वप्रधानता को ही प्रमुख माना है। तुलसीदास को अपने राम (ब्रह्म) की सामर्थ्य में

पूर्ण विश्वास है इसलिए वे बार-बार एक ही प्रार्थना करते हैं कि हे प्रभु मुझे अपने चरणों में शरण दो क्योंकि वे जानते हैं कि इस संसार रूपी भयानक सागर से पार उतरने के लिए रामकृपा के अतिरिक्त और कोई जहाज नहीं है।

### 3 जगत् :-

तुलसीदास हरिमय जगत् को सत्य स्वीकार करते हैं। इसका प्रमुख कारण उसका भगवान् से प्रादुर्भाव है। चूँकि भगवान् सत्य है, इसलिए उनसे प्रादुर्भूत जगत् भी सत्य है। हरिशून्य जगत् को तुलसीदास ने असत्य कहा है क्योंकि जब जीव अज्ञान वश माया से आवृत्त इस संसार को सत्य समझकर अनेक प्रकार के दुःख भोगता है। हरि से विरक्त जीव को ईश्वर की ओर उन्मुख करने के लिए ही तुलसीदास ने जगत् की असारता का संदेश दिया है। जब जीव भक्ति करने लगता है तो उसके ऊपर से मायावरण हट जाता है और उसे भगवान् और जगत् की अभिन्न अनुभूति होती है। इस प्रकार तुलसीदास ने विषयोपभोग में लिप्त जीव को विरक्त बनाने के लिए संसार के मिथ्यात्व का निर्देश किया गया है विषयोपरत एवं भगवद्नुरक्त महा-भाग को नहीं। जो जीव स्वार्थ को ही संसार समझते हैं। उनके लिए अवश्य ही तुलसीदास द्वारा 'जगन्नमिथ्या' का सिद्धान्त प्रतिपादित किया गया है, किन्तु जो परार्थ एवं परमार्थ में ही जगत् की सत्ता स्वीकार करते हैं उनके लिए तुलसीदास ने जगत् को सच्चाई सार कह कर पुकारा है।

### 4 माया—

माया ही जीव को ब्रह्म से अलग करती है। जीव के लिये माया ही सबसे बड़ा बंधन माना है। ब्रह्म और जगत् की द्विविध सत्ता के सम्बन्ध में जो भ्रम है इसी भ्रम को तुलसीदास ने माया कहा है। यही जीव का बंधन है। भगवान् की कृपा से ही माया का आवरण हटता है तथा जीव व ब्रह्म एक हो जाते हैं, क्योंकि माया राम की शक्ति होने के कारण उनकी दासी है। यही कारण है कि जो राम के भक्त हैं, उनकी ओर आना तो दूर रहा, माया देखती भी नहीं हैं। इसी के साथ जो राम विमुख हैं, उन्हें माया बन्दर के समान नचाती है। इस प्रकार तुलसीदास लिखते हैं कि यह माया का पाश अत्यंत कड़ा है, भगवान् की कृपा के बिना इससे छूटना असंभव है।

## 2 विनय-पत्रिका में भक्ति के अंग-

**आनुकूल्यस्य संकल्प-** जो कार्य भगवान् के अनुकूल हों उन्हें ही करना अर्थात् भक्त सर्वप्रथम भगवान् के प्रति सदैव अनुकूल रहने की निश्चयात्मक अभिव्यक्ति करता है। भगवद्भक्ति प्राप्त्यर्थ अनुकूल वातावरण में रहने की निश्चित धारणा ही अनुकूलता का संकल्प है। भक्त वही कार्य करता है जो उसके भगवान् को अच्छे लगते हैं। भक्त सांसारिक कार्यों को छोड़कर केवल अपने आराध्य से प्रेम करता है। भक्त का एक ही लक्ष्य होता है भगवान् की शरण में जाना इसके लिए वह भगवान् के अनुकूल ही कार्य करता है तथा वही कार्य करता है जिससे भगवान् के चरणों में स्थान मिले। भक्त प्रेमपूर्वक अपने आराध्य की सेवा करता है, यही सच्ची भक्ति है। श्रीमद्भागवत के अनुसार-

“अथ विश्वेश विश्वात्मान् विश्वमूर्ते स्वकेषु मे।

स्नेहपाशमिमं छिन्धि दृढं पाण्डुषु व्रष्णिषु ॥

त्वयि मेऽनन्यविषया मतिर्मधुपतेऽसकृत्।

रतिमुद्वहतादद्धा गङ्गे- वौधमुदन्वति ॥”<sup>41</sup>

अर्थात् आप विश्व के स्वामी हैं, विश्व के आत्मा है और विश्वरूप हैं। यदुवंशियों और पाण्डवों में मेरी बड़ी ममता हो गयी है। आप कृपा करके स्वजनों के साथ जोड़े हुए इस स्नेह की दृढ़ फांसी को काट दीजिये। हे श्री कृष्ण! जैसे गंगा की अखण्ड धारा समुद्र में गिरती रहती है, वैसे ही मेरी बुद्धि किसी दूसरी ओर न जाकर आपसे ही निरन्तर प्रेम करती रहे। इसी प्रकार अनुकूलता का अन्य उदाहरण निम्न है-

“पुनश्च भूयाद्भगवत्यनन्ते रतिः प्रसङ्गश्च तदाश्रयेषु।

महत्सु यां यांमुपयामि सृष्टि मैत्र्यस्तु सर्वत्र नमो द्विजेभ्यः ॥”<sup>42</sup>

अर्थात् मैं आप ब्राह्मणों के चरणों में प्रणाम करके पुनः यही प्रार्थना करता हूँ कि मुझे कर्मवश चाहे जिस योनि में जन्म लेना पड़े, भगवान् श्री कृष्ण के चरणों में मेरा अनुराग हो, उनके चरणाश्रित महात्माओं से विशेष प्रीति हो और जगत् के समस्त प्राणियों के प्रति मेरी एकसी मैत्री रहे। ऐसा आप आशीर्वाद दीजिये। इस प्रकार भक्त केवल अपने भगवान् से प्रेम करता है तथा उनके चरणों में शरण चाहता है। भक्त अपने आराध्य से कहता है कि हे प्रभु मुझे इस सांसारिक माया से बाहर

निकालो तथा अपने चरणों में शरण दो। इस प्रकार भक्त अपने आराध्य से प्रार्थना करता है कि मेरा जो प्रेम संसार (लौकिक) से है उसे वहाँ से हटाकर उस सम्पूर्ण प्रेम को ईश्वर (अलौकिक) में लगा दो अर्थात् केवल ईश्वर से अनुराग हो और किसी से नहीं। इस प्रकार जब भक्त सर्वतोभावेन ईश्वर को समर्पित हो जाता है तो उसकी सांसारिक कामनाएँ स्वतः नष्ट हो जाती हैं। भक्त केवल ईश्वर के अनुकूल आचरण करता है यही अनुकूलता का संकल्प है।

**“न कामयेऽन्यं तव पादसेवना—दाकिञ्चनप्रार्थ्यतमाद् वरं विभो।**

**आराध्य कस्त्वां लपवर्गद हरे वृणीत आर्यो वरमात्मबन्धनम् ॥**

**तस्माद् विसृज्यशिष ईश सर्वतो रजस्तमः सत्त्वगुणानुबन्धनाः।**

**निरंजनं निर्गुणमद्वयं पर त्वां ज्ञप्तिमात्रं पुरुषं ब्रजाम्यहम् ॥”<sup>43</sup>**

अर्थात् हे अन्तर्यामी प्रभो! आपसे क्या छिपा है? मैं आपके चरणों की सेवा के अतिरिक्त और कोई भी वर नहीं चाहता; क्योंकि जिनके पास किसी प्रकार का संग्रह—परिग्रह नहीं है अथवा जो उसके अभिमान से रहित हैं, वे लोग भी केवल उसीके लिये प्रार्थना करते रहते हैं। भगवन्! भला, बतलाइये तो सही मोक्ष देने—वाले आपकी आराधना करके ऐसा कौन श्रेष्ठ पुरुष होगा, जो अपनेको बाँधनेवाले सांसारिक विषयों का वर माँगे। इसलिये प्रभो! मैं सत्त्वगुण, रजोगुण और तमोगुण से सम्बन्ध रखने वाली समस्त कामनाओं को छोड़कर केवल माया के लेशमात्र सम्बन्ध से रहित, गुणातीत, एक—अद्वितीय, चित्स्वरूप परमपुरुष आपकी शरण ग्रहण करता हूँ। इस प्रकार भक्त केवल अपने आराध्य से भक्ति की प्रार्थना करता है तथा उनके चरणों में शरण चाहता है। वह भगवान् से कहता है कि मुझे इन सांसारिक विषयों से दूर रखना क्योंकि ये सब बन्धन के कारण हैं। इस प्रकार भक्त हर प्रकार से अपने प्रभु के अनुकूल रहने का संकल्प करता है तथा भगवान् की शरण में पहुँच कर भक्त चिन्तामुक्त हो जाता है। इस प्रकार भक्त वही कार्य करता है जो उसके प्रभु के अनुकूल हो। अर्थात् वही कार्य करना जिनसे ईश्वर में पूर्ण रूप से समर्पण हो, ईश्वर की भक्ति प्राप्त हो तथा ईश्वर से प्रेम हो। “सदाचरण ही भगवान् के अनुकूल उत्तम कर्म है, इसी के द्वारा भक्त मनोरथ की सिद्धि कर पाता है।”<sup>44</sup> अर्थात् वे बातें करना जो भगवान् के अनुकूल हों, उन्हें अच्छी लगेँ। कबीर की सारी वाणी समस्त उपदेश इसी तत्त्व को लेकर खड़े हुए हैं। “वह भक्त को सद्गुणों की

शिक्षा देते हैं उसे सदाचरण सिखलाते हैं। सेव्य सेवक भाव में दृढ़ होने का उपदेश देते हैं। इन सबसे अधिक जोर उन्होंने हृदय की निष्कपटता पर दिया।<sup>45</sup> कबीर ने लिखा है—

**“हरि न मिले बिन हिरदे सूध।”<sup>46</sup>**

इस प्रकार कबीर ने भक्ति में निष्कपटता पर जोर दिया है। उनका कहना है कि पवित्र हृदय में ही ईश्वर निवास करते हैं। ईश्वर को कोई भी व्यक्ति छल-कपट से नहीं प्राप्त कर सकता लेकिन पवित्र हृदय से ईश्वर को तुरन्त प्राप्त किया जा सकता है। तुलसीदास पूरे प्रपन्न भक्त थे। राम के चरणों में शरणागति तुलसी का एकमात्र ध्येय है। इसी ध्येय अथवा उद्देश्य की प्राप्ति के लिए उन्होंने ‘विनयपत्रिका’ में विभिन्न देवी-देवताओं की स्तुति की है। सभी देवी-देवताओं की स्तुति करते हुए वे अंत में राम-भक्ति प्राप्त करने का ही वरदान माँगते हैं— अन्य कोई भी स्पृहा उनके मन में नहीं है। प्रपत्ति-याचना विनय के द्वारा की जाती है। अतः ‘विनय’ प्रपत्ति के भीतर अनिवार्यतः विद्यमान रहती है। तुलसी का यह दृढ़ विश्वास है कि (आर्त्त) प्रपन्न भक्त बनकर ही राम-चरण-प्राप्ति हो सकती है एवं भव-सागर से पार उतरा जा सकता है। प्रपत्यात्मक भक्ति या शरणागति तुलसी के भक्ति-सिद्धान्त की नींव है—

**“मैं हरि पतित-पावन सुने।**

**मैं पतित तुम पतित-पावन दोउ बानक बने।।**

**ब्याध गनिका गज अजामिल साखि निगमनि बने।**

**और अधम अनेक तारे जात कापै गने।।**

**जानि नाम अजानि लीन्हें नरक सुरपुर मने।**

**दास तुलसी सरन आयो, राखिये आपने।।”<sup>47</sup>**

राम के शरणागत-वत्सल रूप से अनभिज्ञ जगत् सांसारिक वासनाओं में प्रवृत्त हो गया है, जिसके परिणामस्वरूप वह भंयकर कष्टों को झेल रहा है। किन्तु कपट त्यागकर एकनिष्ठता से पतितपावन भगवान् की शरण में जाने से, तुलसी कहते हैं कि मेरे जैसे (पापी) भी भवसागर से तर गए। तुलसी जैसे महान् भक्त को तो रामचरणरति का वरदान मिलना स्वाभाविक था। ‘विनयपत्रिका’ के महान् रचयिता से बढ़कर और कौन परमपद का अधिकारी बन सकता था। तुलसीदास ने लिखा है कि

कोई भी व्यक्ति छलहीन अवस्था में भगवान् की शरण में जाने पर आनंद प्राप्त कर सकता है। आनुकूल्यस्य संकल्पः अर्थात् भक्त सर्वप्रथम भगवान् के प्रति सदैव अनुकूल रहने की निश्चयात्मक अभिव्यक्ति करता है। तुलसी की विनयपत्रिका में आनुकूल्यस्य संकल्प इस पद (172) में –

“कबहुँक हौं यहि रहनि रहौंगो।

श्री रघुनाथ—कृपालु—कृपातें संत—सुभाव गहौंगो।।

ज्यालाभसंतोष सदा, काहू सौं कछु न चाहौंगे।।

पर हित—निरत निरंतर, मन क्रम बचन नेम निबहौंगो।।

परुष बचन अति दुसह श्रवन सुनि तेहि पावक न दहौंगो।

बिगत मान, सम सीतल मन, पर—गुन नहिं दोष कहौंगो।।

परिहरि देह—जनित चिंता, दुख—सुख समबुद्धि सहौंगो।

तुलसीदास प्रभु यहि पथ रहि अबिचल हरि—भगति लहौंगो।।<sup>48</sup>

अर्थात् क्या मैं कभी इस रहनीसे रहूँगा? क्या कुपालु श्रीरघुनाथजी की कृपा से कभी मैं संतो का—सा स्वभाव ग्रहण करूँगा। जो कुछ मिल जायगा उसीमें संतुष्ट रहूँगा, किसी से (मनुष्य या देवता से) कुछ भी नहीं चाहूँगा। निरन्तर दूसरों की भलाई करने में ही लगा रहूँगा। मन, वचन और कर्म से यम—नियमों का पालन करूँगा। कानों से अति कठोर और असह्य वचन सुनकर भी उससे उत्पन्न हुई (क्रोधकी) आग में न जलूँगा। अभिमान छोड़कर सबमें समबुद्धि रहूँगा और मन को शान्त रखूँगा। दूसरों की स्तुति—निन्दा कुछ भी नहीं करूँगा। (सदा आपके चिन्तन में लगे हुए मुझको दूसरों की स्तुति निन्दा के लिये समय ही नहीं मिलेगा)। शरीर—सम्बन्धी चिन्ताएँ छोड़कर सुख और दुःख को समान—भाव से सहूँगा। हे नाथ! क्या तुलसीदास इस (उपर्युक्त) मार्गपर रहकर कभी अविचल हरि—भक्ति को प्राप्त करेगा? इस प्रकार तुलसीदास की सदैव यही तीव्र मनोकांक्षा होती है कि वह सच्चे अर्थों में संत का स्वभाव ग्रहण करके भगवद्भक्ति को प्राप्त करे अथवा भगवान् के प्रति अनुकूलता का संकल्प करे। यहाँ तुलसीदास ने आत्मपरक जीवन—यापनेच्छा के साथ—साथ संत—लक्षणों का भी वर्णन किया गया है। संतोष, निस्पृहता परहितचिंतन, मन—वचन—कर्म से नियमों का पालन, सहिष्णुता, मानापमान के भावों से मुक्ति, शारीरिक चिन्ताओं से मुक्ति इत्यादि संत के लक्षण हैं। इन लक्षणों से युक्त संत

स्वभावतः भगवान् के अनुकूल हो जाता है। चाहे जैसी भी स्थिति हो संत भगवद्भक्ति का परित्याग नहीं करता। इसीलिए, तुलसी संत-स्वभाव ग्रहण करने की कामना व्यक्त कर रहे हैं। वस्तुतः भक्त-कवियों ने संत की प्रशंसा इसलिए की है कि उसमें अटल भगवद्भक्ति की प्रवृत्ति विद्यमान होती है। सूरदास ने भी ईश्वर के अनुकूल कार्य करने का सन्देश दिया है। आत्मा के उत्थान के अनुकूल जहाँ वातावरण मिले, वहीं जाने का संकल्प इन पक्तियों में प्रकट हुआ है—

“सुवा, चलि ता बन कौ रस पीजै ।

जा बन रामनाम अम्रितरस, स्त्रवन-पात्र भरि लीजै ।।

को तेरौ पुत्र, पिता तू काकौ, घरनी घर कौ तेरौ?

काग-सुगाल-स्वान कौ भोजन, तू कहै मेरौ-मेरौ ।

बन बारानसि मुक्ति-क्षेत्र है, चलि तोकौँ दिखराऊँ ।

सूरदास साधुनि की संगति, बड़े भाग्य जो पाऊँ ।।<sup>49</sup>

अर्थात् हे (मनरूपी) शुक, उस (सत्संग रूपी दिव्य) वन के रस का पान करो जिस वन में राम-नाम रूपी अमृतोपम रस सुलभ है उसे अपने कर्ण-पात्रों में भर लेना। (इस नश्वर संसार में) कौन तुम्हारा पुत्र है, तुम किसके पिता हो, कौन तुम्हारी गृहिणी है और कौन तुम्हारा घर है? (वस्तुतः ये सभी सम्बन्धी) कौवों, स्यारों और कुत्तों के भोजन स्वरूप हैं, परन्तु तुम कहते हो कि यह मेरा है, वह मेरा है। (यह सत्संग रूपी) वन वाराणसी (के समान पवित्र) एवं मुक्तिदायी क्षेत्र है, चलो तुम्हें (इसका) दर्शन करा दूँ। सूरदास कहते हैं कि सन्तों की संगति ही यह (मुक्ति-दायी वन-वाराणसी है) इसे पा जाँउ तो धन्य मेरे भाग्य।<sup>50</sup> इस प्रकार सूरदास मनुष्य को संसार की नश्वरता से परिचित कराते हुए उसे ईश्वर की शरण में जाने का संदेश देते हैं। सूरदास भगवान् के नाम को अमृत तथा सांसारिक सम्बन्धों को विष के समान बताते हैं तथा भक्त को सांसारिकता से हटकर ईश्वर भजन में ध्यान लगाने को कहते हैं। आनुकूल्यस्य संकल्पः में भक्त भगवान् के अनुकूल चलने का निश्चय करता है। “संकल्पः का यह भाव शरणागति की मनोवैज्ञानिक भूमिका है। इससे भक्त का चित्त अहंकारादि से मुक्त और सत्वगुणयुक्त होकर, उसको भगवत्प्रसाद का पात्र बना देता है।<sup>51</sup> इस प्रकार भक्त विषय-वासनाओं से मुक्त होकर भगवान् के अनुकूल होने का संकल्प करता है। भक्त अनित्य संसार को छोड़कर नित्य व



पूर्ण ईश्वर के चरणों में अपने आपको समर्पित कर देता है। “जैसे नदी के पार जाने का अभिलाषी नाव पर बैठकर निश्चिंत हो जाता है उसके पार पहुँचाने का समग्र उत्तरदायित्व नाव के खेने वाले पर होता है, उसे नाव पर बैठने के अतिरिक्त स्वयं कोई पुरुषार्थ नहीं करना पड़ता, इसी प्रकार भक्त का कार्य केवल प्रभु की शरणरूपी नाव पर बैठ जाना है। आत्मनिवेदन और सर्वात्मना समर्पण के अतिरिक्त उसे और कुछ नहीं करना है। भवसागर से पार लगाने और उसके योग-क्षेम को साधने की चिन्ता स्वयं भगवान् करेंगे, वह नहीं।”<sup>52</sup> इस प्रकार भक्त सर्वतोभावेन समर्पण के द्वारा भवसागर से पलक-झपकते ही पार हो जाता है। ईश्वर (सत्य) के अनूकूल जो आचरण किया जाता है वही सच्ची भक्ति है, वही आनुकूल्यस्य संकल्पः है। ईश्वर की शरण में जाकर भक्त निहाल हो जाता है। उसका उद्धार हो जाता है।

“अबलों नसानी, अब न नसैहों।

श्रीराम-कृपा भव-निसा सिरानी, जागे फिरि न डसैहों ॥

पायेउँ नाम चारु चिंतामनि, उर कर तें न खसैहों ॥

परबस जानि हँस्यो इन इंद्रिन, निज बस हवै न हंसैहौ ॥

मन मधुकर पनकै तुलसी रघुपति-पद-कमल बसैहों ॥”<sup>53</sup>

अर्थात् अब तक तो (यह आयु व्यर्थ ही) नष्ट हो गयी, परन्तु अब इसे नष्ट नहीं होने दूँगा। श्रीरामकी कृपासे संसाररूपी रात्रि बीत गयी है, (मैं संसार की माया-रात्रिसे जग गया हूँ) अब जागने पर फिर (माया का) बिछौना नहीं बिछाऊँगा (अब फिर माया के फंदे में नहीं फँसूँगा)। मुझे रामनामरूपी सुन्दर चिन्तामणि मिल गयी है। उसे हृदयरूपी हाथ से कभी नहीं गिरने दूँगा। अथवा हृदय से रामनाम का स्मरण करता रहूँगा और हाथसे रामनामकी माला जपा करूँगा। श्री रघुनाथ जी का जो पवित्र श्यामसुन्दर रूप है उसकी कसौटी बनाकर अपने चित्तरूपी सोने को कसूँगा। अर्थात् यह देखूँगा कि श्रीराम के ध्यान में मेरा मन सदा-सर्वदा लगता है कि नहीं। जब तक मैं इन्द्रियों के वश में था, तबतक उन्होंने (मुझे मनमाना नाच नचाकर) मेरी बड़ी हँसी उड़ाई, परन्तु अब स्वतन्त्र होने पर यानी मन-इन्द्रियों को जीत लेने पर उनसे अपनी हँसी नहीं कराऊँगा। अब तो अपने मनरूपी भ्रमरको प्रण करके श्रीरामजी के चरण-कमलों में लगा दूँगा। अर्थात् श्री राम जी के चरणों को

छोड़कर दूसरी जगह मनको जाने ही नहीं दूँगा।<sup>18</sup> इस प्रकार तुलसीदास ने अपने आराध्य राम की शरणागति प्राप्त करने के लिए राम-चरण-रति का दृढ़ संकल्प किया है। अपने आराध्य की शरण में जाने पर आराधक आत्महितार्थ अनुकूल सत्कार्यों के सम्पादन का संकल्प करता है। तुलसी के यहाँ अहम् नाम की मनोभावना का संपूर्ण अभाव है। तुलसी विशिष्टतम मानव थे, किन्तु वे स्वयं को सामान्यतम मानव कहकर ऐसी आत्म स्वीकृति करते थे, जो प्रत्येक हृदय को छूने में सक्षम थी। यहां तुलसीदास भगवान् श्रीराम के अनुकूल रहने का संकल्प कर रहे हैं। राम की अनुकंपा से मोह-नाश हो गया है, जिसके कारण ऐसी स्थिति आ गई है कि पुनः माया के व्यूह में न फँसा जा सके। इसीलिए अब सदा-सर्वदा के लिए हृदयरूपी कर से रामनाम-रूपी चिंतामणि नहीं गिरेगी। पहले जब रामकृपा नहीं हुई थी तो मन तथा इन्द्रियों ने मेरा बहुत उपहास किया, किन्तु अब रामकृपा के बल से मन तथा इन्द्रियों को अपने वश में करके अपनी और हंसी नहीं करवाऊँगा। अब तो मेरा मन-मधुकर 'केवल' रामचरण-कमल का ही रसपान करेगा। अर्थात् मैं संपूर्णतः केवलमात्र राम की आराधना करूँगा। इसप्रकार भक्त अनुकूलता का संकल्प भी राम-कृपा के आधार पर ही कर सकता है, क्योंकि उसी के कारण वह मोह-रात्रि से बाहर निकल पाया है। राम-कृपा से ही भक्त अज्ञान-रूपी अंधकार से बाहर निकला है, राम-कृपा से ही वह आत्मबोध की शुद्धता की सीमा से अवगत हो रहा है, राम-कृपा से ही वह अपने मन रूपी भँवरे को 'केवलमात्र' राम-चरण-कमल का अमृतपान करने के लिए प्रेरित करता है।

**“जानकी-जीवनकी बलि जैहों।**

**चित कहै रामसीय-पढ़ परिहरि अब न कहूँ चलि जैहों।।**

**उपजी उर प्रतीति सपनेहुँ सुख, प्रभु-पद-बिमुख न पैहों।**

**मन समेत या तनके बासिन्ह, इहै सिखवन देहों।।**

**श्रवननि और कथा नहिं सुनिहों, रसना और न गैहों।**

**रोकिहों नयन बिलोकत औरहिं, सीस- ईस ही नैहों।।**

**नातो-नेह नाथसों करि सब नातो-नेह बहैहों।**

**यह छर भार ताहि तुलसी जग जाको दास कहैहों।।<sup>54</sup>**

अर्थात् मैं तो श्रीजानकी—जीवन रघुनाथजी पर अपने को न्योछावर कर दूँगा। मेरा मन यही कहता है कि अब मैं श्रीसीता—रामजी के चरणों को छोड़कर दूसरी जगह कहीं भी नहीं जाऊँगा। मेरे हृदय में ऐसा विश्वास उत्पन्न हो गया है कि अपने स्वामी श्रीरामजी के चरणों से विमुख होकर मैं स्वप्न में भी कहीं सुख नहीं पा सकूँगा। इससे मैं मन को तथा इस शरीर में रहने वाले (इन्द्रियादि) सभी को यही उपदेश दूँगा। कानों से दूसरी बात नहीं सुनूँगा, जीभ से दूसरे की चर्चा नहीं करूँगा, नेत्रों को दूसरी ओर ताकने से रोक लूँगा और यह मस्तक केवल भगवान् को ही झुकाऊँगा। अब प्रभु के साथ नाता और प्रेम करके दूसरे सबसे नाता और प्रेम तोड़ दूँगा। इस संसार में मैं तुलसीदास जिसका दास कहाऊँगा। फिर मेरे सारे कर्मों का बोझा भी उसी स्वामी पर रहेगा।” इस प्रकार जब भक्त ‘संत’ का स्वभाव ग्रहण कर लेता है, तब अपने आराध्य के अतिरिक्त समग्र संसार से उसका नाता टूट जाता है। तुलसीदास स्पष्ट घोषणा करते हैं कि सीता राम के चरण—कमल के अतिरिक्त अन्य किसी भी वस्तु पर अनुरक्त नहीं होंगे। उनके हृदय को यह अटल विश्वास है कि प्रभु—चरण कमल—विमुख होने पर आनंदोपलब्धि नहीं हो सकती। अतः श्रवण केवल राम कथामृत का ही पान करेंगे, जिह्वा केवल रामकथा का ही गायन करेगी, नेत्र केवल रामरूप के ही दर्शन करेंगे, भाल केवल राम—चरणों में ही झुकेगा— यह तुलसी का प्रण है। सांसारिक स्नेह संबंधों को तोड़कर वे केवल श्रीराम से संबंध बनाएंगे। भगवान् श्रीराम के अनुकूल रहने के ऐसे कथन ‘विनयपत्रिका’ की एक विशेषता है।

### प्रतिकूलता का त्याग—

इसका अर्थ है जो पदार्थ आध्यात्मिक उत्थान से अनुकूल नहीं हैं, प्रतिकूल हैं, भक्त उनका परित्याग कर देता है। इस प्रकार जो कार्य ईश्वर के अनुकूल नहीं हैं भक्त उन सभी का परित्याग कर देता है यही प्रतिकूलता का त्याग है।

“सङ्गं न कुर्यात्प्रमदासु जातु योगस्य पारं परमारुरुक्षुः।

मत्सेवया प्रतिलब्धात्मलाभो वदन्ति या निरयद्वारमस्य ॥”<sup>55</sup>

अर्थात् जो पुरुष योग के परम पद पर आरुढ़ होना चाहता हो अथवा जिसे मेरी सेवा के प्रभाव से आत्मा—अनात्मा का विवेक हो गया हो, वह स्त्रियों का संग कभी न करे; क्योंकि उन्हें ऐसे पुरुष के लिये नरक का खुला द्वार बताया गया है।

भागवत् में लिखा है कि वही कर्म सफल है, जिसके द्वारा सर्वात्मा सर्वेश्वर श्रीहरि का सेवन किया जाता है। जिन कर्मों से श्रीहरि को प्राप्त न किया जाय, वे सब साधन व्यर्थ हैं।

“तज्जन्म तानि कर्माणि तदायुस्तन्मनो वचः ।  
 नृणां येनेह विश्वात्मा सेव्यते हरिरीश्वरः ॥  
 किं जन्मभिस्त्रिभिर्वेह शैकलसावित्रयाञ्जिकैः ।  
 कर्मभिर्वा त्रयीप्रोक्तैः पुंसोऽपि विबुधायुषा ॥  
 श्रुतेन तपसा वा किं निपुणया बलेनेन्द्रियराधसा ॥  
 किं वा योगेन सांख्येन न्यासस्वाध्याययोरपि ।  
 किं वा श्रेयोभिरन्यैश्च न यत्रात्मप्रदो हरिः ॥”<sup>56</sup>

अर्थात् राजाओ! इस लोक में मनुष्य का वही जन्म, वही कर्म, वही आयु, वही मन और वही वाणी सफल है, जिसके द्वारा सर्वात्मा सर्वेश्वर श्रीहरि का सेवन किया जाता है। जिनके द्वारा अपने स्वरूपका साक्षात्कार कराने वाले श्री हरि को प्राप्त न किया जाय, उन माता-पिता की पवित्रता से, यज्ञोपवीत-संस्कार से एवं यज्ञदीक्षा से प्राप्त होने वाले उन तीन प्रकार के श्रेष्ठ जन्मों से, वेदोक्त कर्मों से, देवताओं के समान दीर्घ आयु से, शास्त्रज्ञान से, तप से, वाणी की चतुराई से, अनेक प्रकार की बातें याद रखने की शक्ति से, तीव्र बुद्धि से, बल से, इन्द्रियों की पटुता से, योग से, सांख्य (आत्मानात्मविवेक)-से, संन्यास और वेदाध्ययन से तथा व्रत-वैराग्यादि अन्य कल्याण-साधनों से भी पुरुष का क्या लाभ है?” इस प्रकार वही कार्य उचित है जो ईश्वर के अनुकूल है। भक्त सदैव हरि चरणों में शरण पाने के लिए ईश्वर के अनुकूल कर्म करता है तथा प्रतिकूल का त्याग करता है। वह संसार की नश्वरता से परिचित होता है सांसारिक प्रलोभनों को छोड़कर प्रेमपूर्वक अपने आराध्य की सेवा करता है तथा अपने हरि के चरणों में शरण प्राप्त करता है। इस प्रकार भक्त का भगवान् के चरणों में समर्पण ही सच्ची भक्ति है। यही जीवन का सार है। इसके अनुसार प्रपन्न मनुष्य को कोई ऐसे कार्य नहीं करने चाहिए जिनसे भगवान् अप्रसन्न हों। इसके लिए उसे असद् कर्मों से दूर रहना होता है तथा वही कार्य करने होते हैं जो उसके आराध्य को अच्छे लगते हैं। इस प्रकार असद् कर्मों से दूर रहना ही प्रातिकूल्यस्य वर्जनम् कहलाता है। “भगवान् के प्रतिकूल व्यक्ति, भाव, चर्चा, वस्तु

आदि से पराङ्मुख रहना। यह वस्तुतः अनुकूलता के संकल्प का ही व्यतिरेक प्रतिपादन है।<sup>57</sup> भक्त भूल करके भी भगवान् की आज्ञा का उल्लंघन नहीं कर सकता। प्राकृतिक पदार्थों के शाश्वत गुणों में उलट-फेर हो सकता है, परन्तु भक्त अपने आराध्य के प्रतिकूल नहीं जा सकता। इसी भावना की पराकाष्ठा पर पहुँच कर कबीर ने काम, क्रोध, लोभ, मोह, मान, कपट, आशा, तृष्णा, आदि की निन्दा की है। भगवान् को असन्त सबसे अधिक अप्रिय हैं—

“राम मणि राम मणि राम चिन्तामणि

भाग बड़े पायो छाड़े जिन॥ असंत संगति

जिन जाइ रे भुलाइ। साधु संगति मिली हरि गुण गाई॥<sup>58</sup>

भक्ति की सर्वोच्च स्थिति में मानव शेष सभी उपायों को तिरस्कृत कर केवल भगवान् से ही अपने समस्त मंगल की अपेक्षा करता है। ऐसे व्यक्ति को ही शरणागत कहा जाता है और वह अपना सर्वस्व भगवान् को सौंप देता है। राम के प्रति कबीर की अनन्य भक्ति है। इस प्रकार जो पदार्थ आध्यात्मिक उत्थान के अनुकूल नहीं हैं, प्रतिकूल है, भक्त उनका परित्याग कर देता है। सूरदास ने भी यही संदेश दिया है—

“दिये लेत नहिं चार पदारथ, चरन कमल

चित लाये। तीन लोक तृन सम करि

लेखत, नंद नंदन उर लाये।<sup>59</sup> तथा

“अब न सुहात विषय—रस—छीलर वा समुद्र की आस।<sup>60</sup>

सूरदास लिखते हैं कि मुझे उस परमपद भगवान् के चरणों रूपी समुद्र को छोड़कर यह विषयों के रस की यह छिछली तलैया (दुनियाँ) अच्छी नहीं लग रही है। जो एक बार उस प्रभु के चरण कमलों के रस का पान कर लेता है फिर उसे यह सांसारिक आकर्षण तुच्छ लगते हैं। भक्त को केवल अपने भगवान् के अनुकूल रहना अच्छा लगता है। भगवान् के विपरीत (संसार) चलना भक्त को अच्छा नहीं लगता क्योंकि जो हरिरस का पान कर लेता है वह फिर अपना सारा ध्यान हरि में ही केन्द्रित कर लेता है। इस प्रकार का सर्वतोभावेन समर्पण ही सच्ची भक्ति है।

“तजौ मन, हरि बिमुखनि कौ संग।

जिनकँ, संग कुमति उपजति है, परत भजन मैं भंग।

कहा होत पय पान कराएँ, बिष नहिँ तजत भुजंग ।  
 कागहिँ कहा कपूर चुगाएँ, स्वान न्हवाएँ गंग ।  
 खर काँ कहा अरगजा लेपन, मरकट भूषन—अंग ।  
 गज काँ कहा सरित अन्हवाएँ, बहुरि धरे वह ढंग ।  
 पाहन पतित बान नहिँ बेधत, रीतौ करत निषंग ।  
 सूरदास कारी कामरि पै, चढ़त न दूजौ रंग ॥<sup>61</sup>

अर्थात् हे मन, असंतों (दुष्टों) का साथ छोड़ दो। उनके साथ (रहने से) दुर्बुद्धि उत्पन्न होती है तथा भगवान् के भजन में बाधा पड़ती है। (तुम्हारा यह सोचना कि उन्हें अपने भजन-भाव, सदुपदेश आदि द्वारा प्रभावित कर सकोगे, निष्फल है) साँप को दूध पिलाने से क्या लाभ? इससे वह अपना विष नहीं छोड़ता। कौवे को कपूर चुगाने और कुत्ते को गंगा में नहलाने से क्या (लाभ) होता है? (वे पुनः अभक्षय-भक्षण करते हैं)। गधे को सुगंधित लेप करने से तथा बन्दर के अंगों में आभूषण पहनाने से क्या लाभ होता है? हाथी को नदी में नहलाने से क्या होता है, वह पुनः अपना वही (अपने शरीर पर धूल डालने का) ढंग अपनाता है। पतित रूपी पत्थर सदुपदेश रूपी बाणों से बिद्ध (प्रभावित) नहीं हो सकता, उसे बिद्ध करने की चेष्टा में व्यर्थ ही तरकश खाली होता है (बाणों की बरबादी होती है)। सूरदास कहते हैं कि काले कंबल पर दूसरा रंग नहीं चढ़ता। (इसी प्रकार दुष्ट स्वभाव वाले मनुष्यों पर भी अच्छी बातों का प्रभाव नहीं पड़ता, अतः उनका परित्याग कर देना चाहिए) इस प्रकार सूरदास अपने मन को समझाते हुए लिखते हैं कि उन व्यक्तियों का त्याग कर देना चाहिए जो हरि भक्ति में बाधक है। जिस व्यक्ति के साथ रहने से दुर्बुद्धि उपजती है उसे तुरंत त्याग देना चाहिए। मनुष्य जीवन सन्मार्ग पर चलने के लिए मिला है। भक्ति के माध्यम से ईश्वर को प्राप्त किया जा सकता है। जिससे मनुष्य का परम कल्याण होता है। ऐसे दुर्लभ जीवन को दुष्ट व्यक्तियों के संग से बचाना चाहिए। क्योंकि भक्त वही कार्य करता है जो उसके आराध्य के अनुकूल हो और जो कार्य आध्यात्मिक उत्थान के अनुकूल नहीं है भक्त उनका परित्याग कर देता है इसी को प्रतिकूलता का त्याग करना कहते हैं। तुलसीदास ने भी अपने आराध्य के अनुकूल आचरण करना तथा प्रतिकूलता को त्यागना यही संदेश दिया है। तुलसीदास ने लिखा है जब कोई व्यक्ति आपके भक्ति-भाव में बाधक बनता है

अर्थात् आपको ईश्वर की ओर जाने से रोकता है तो उसका तुरन्त त्याग कर देना चाहिए। क्योंकि जीवन में जब तक हरि भक्ति नहीं की सम्पूर्ण जीवन व्यर्थ है। हरि की कृपा से ही जीवन सारमय बनता है तथा मनुष्य को भगवद् भक्ति का वरदान मिलता है। तुलसीदास ने इसी भावना की पराकाष्ठा पर पहुँच कर यह भाव व्यक्त किया है—

“जाके प्रिय न राम—बैदेही।

तजिये ताहि कोटि बैरी सम, जद्यपि परम सनेही।।

तज्यो पिता प्रह्लाद, बिभीषण बंधु, भरत महतारी।

बलि गुरु तज्यो कंत ब्रज—बनितन्हि, भये मुद—मंगलकारी।।

नाते नेह रामके मनियत सुहृद सुसेब्य जहाँ लौं।

अंजन कहा आँखि जेहि फूटै, बहुतक कहौं कहौं लौं।।

तुलसी सो सब भाँति परम हित पूज्य प्राणते प्यारो।

जासों होय सनेह राम—पद, एतो मतो हमारो।।”<sup>62</sup>

अर्थात् जिसे श्रीराम—जानकी जी प्यारे नहीं, उसे करोड़ों शत्रुओं के समान छोड़ देना चाहिये, चाहे वह अपना अत्यन्त ही प्यारा क्यों न हो। (उदाहरण के लिये देखिये) प्रह्लाद ने अपने पिता (हिरण्यकशिपु)—को, विभीषण ने अपने भाई (रावण)—को, भरत जी ने अपनी माता (कैकेयी)—को, राजा बलि ने अपने गुरु (शुक्राचार्य)—को और ब्रज—गोपियों ने अपने—अपने पतियों को (भगवत्प्राप्ति में बाधक समझकर) त्याग दिया, परन्तु ये सभी आनन्द और कल्याण करने वाले हुए। जितने सुहृद् और अच्छी तरह पूजने योग्य लोग हैं, वे सब श्री रघुनाथ जी के ही सम्बन्ध ओर प्रेम से माने जाते हैं, बस, अब अधिक क्या कहूँ। जिस अंजन के लगाने से आँखें ही फूट जायँ, वह अंजन ही किस काम का? हे तुलसीदास! जिसके कारण (जिसके संग या उपदेश से) श्री रामचन्द्रजी के चरणों में प्रेम हो, वही सब प्रकार से अपना परम हितकारी, पूजनीय और प्राणों से भी अधिक प्यारा है। हमारा तो यही मत है।” इस प्रकार तुलसीदास की राम—भक्ति सुविख्यात है। उन्होंने अपने संपूर्ण काव्य में राम—भक्ति का महान् एवं प्राणपुलककारी उपदेश दिया है। उन्होंने स्थान—स्थान पर रामभक्ति से विमुख व्यक्तियों को निर्ममतापूर्वक त्याग देने का परामर्श दिया है, क्योंकि ऐसे व्यक्तियों की संगति में रहकर भक्त भगवद्भक्ति में लीन नहीं हो

सकता। जिसे सीताराम के चरणों से प्रेम नहीं है उसे करोड़ों शत्रुओं के समान त्याग देना चाहिए, क्योंकि वह राम-भक्ति में बाधक है।

“जो पै रहनि रामसों नाही।

तौ नर खर कूकर सूकर सम बृथा जियत जग माहीं।।  
काम, क्रोध, मद, लोभ, नींद, भय, भूख, प्यास सबही के।  
मनुज देह सुर-साधु सराहत, सो सनेह सिय-पीके।।  
सूर, सुजान, सुपूत, सुलच्छन गनियत गुन गरुआई।  
बिनु हरिभजन ईंदा रुनके फल तजत नहीं करुआई।।  
कीरति, कुल करतूति, भूति भलि, शील सरूप सलोने।  
तुलसी प्रभु-अनुराग-रहित जस सालन साग अलोने।।”<sup>63</sup>

अर्थात् जिसकी श्रीरामचन्द्र जी से प्रीति नहीं है वह इस संसार में गदहे, कुत्ते और सूअर के समान वृथा ही जी रहा है। काम, क्रोध, मद, लोभ, नींद, भय, भूख, और प्यास तो सभी में है। पर जिस बात के लिये देवता और संतजन इस मनुष्य-शरीर की प्रशंसा करते हैं, वह तो श्रीसीतानाथ रघुनाथजीका प्रेम ही है (भगवत्प्रेम से ही मनुष्य-जीवन की सार्थकता है)। कोई शूरवीर, सुचतुर, माता-पिता की आज्ञा में रहने वाला सुपूत, सुन्दर लक्षणवाला तथा बड़े-बड़े गुणों से युक्त भले ही श्रेष्ठ गिना जाता हो परन्तु यदि वह हरिभजन नहीं करता है तो वह इन्द्रायण के फल के समान है, जो (सब प्रकार से देखने में सुन्दर होने पर भी) अपना कड़वापन नहीं छोड़ता। कीर्ति, ऊँचा कुल, अच्छी करनी, बड़ी विभूति, शील और लावण्यमय स्वरूप होने पर यदि वह प्रभु श्रीरामचन्द्रजी के प्रति प्रेम से रहित है, तो ये सब गुण ऐसे ही हैं, जैसे बिना नमक की साग-भाजी। इस प्रकार तुलसीदास लिखते हैं कि राम-भक्ति में बाधक सिद्ध होने वाला प्रत्येक व्यक्ति भक्त का शत्रु है, चाहे साँसारिक दृष्टि से उसका भक्त से कितना ही घनिष्ठ संबंध क्यों न हो। राम भक्ति से पराङ्मुख मनुष्य इस संसार में गदर्भ, श्वान एवं शूकर के समान व्यर्थ ही जी रहा है। वह सुर-दुर्लभ मानव-जीवन का वास्तविक आनन्द तो प्राप्त कर ही नहीं पा रहा। पशुवत् खा-पी कर और व्यर्थ में इधर-उधर के कामों में अमूल्य समय नष्ट कर जीवन गवाँ रहा है। समय बीत जाने पर पछताने के अलावा कुछ भी हाथ नहीं लगता। रामभक्ति ही सर्वोपरि वस्तु है, अन्य वस्तुएँ त्याज्य हैं—



“मन पछितैहै अवसर बीते ।

दुरलभ देह पाइ हरिपद भजु, करम, बचन अरु ही ते ॥

सहसबाहु दसबदन आदि नृप बचे न काल बलीते ।

हम—हम करि धन—धाम सँवारे, अंत चले उठि रीते ॥

सुत—बनितादि जानिस्वारथरत, न करु नेह सबही ते ।

अंतहु तोहिं तजैगे पामर! तू न तजै अबही ते ॥

अब नाथहिं अनुरागु, जागु जड़, त्यागु, दुरासा जी ते ।

बुझै कि काम अगिनि तुलसी कहँ, विषय—भोग बहु घी ते ॥<sup>64</sup>

अर्थात् अरे मन! (मनुष्य—जन्म की आयु का यह) सुअवसर बीत जाने पर तुझे पछताना पड़ेगा। इसलिये इस दुर्लभ मनुष्य शरीर को पाकर कर्म, वचन और हृदय से भगवान् के चरण—कमलों का भजन कर। सहस्रबाहु और रावण आदि (महाप्रतापी) राजा भी बलवान् काल से नहीं बच सके, उन्हें भी मरना पड़ा। जिन्होंने ‘हम—हम’ करते हुए धन और धाम सँभाल—सँभालकर रखे थे, वे भी अन्त समय यहाँ से खाली हाथ ही चले गये (एक कौड़ी भी साथ न गयी)। पुत्र, स्त्री आदि को स्वार्थी समझ इन सबसे प्रेम न कर। अरे अधम! जब ये सब तुझे अन्त समय में छोड़ ही देंगे, तो तू इन्हें अभी से क्यों नहीं छोड़ देता? (इनका मोह छोड़कर अभी से भगवान् में प्रेम क्यों नहीं करता?)। अरे मूर्ख! (अज्ञान—निद्रा से) जाग, अपने स्वामी (श्री रघुनाथ जी)—से प्रेम कर और हृदय से (सांसारिक विषयों से सुख की) दुराशा को त्याग दे, (विषयों में सुख है ही नहीं, तब मिलेगा कहाँ से?) हे तुलसीदास! जैसे अग्नि बहुत—सा घी डालने से नहीं बुझती (अधिक प्रज्वलित होती है), वैसे ही यह कामना भी ज्यों—ज्यों विषय मिलते हैं त्यों—ही—त्यों बढ़ती जाती है। (यह तो सन्तोषरूपी जल से ही बुझ सकती है)” इस प्रकार तुलसीदास ने स्थान—स्थान पर रामभक्त को राम के प्रतिकूल पुत्र, कामिनी इत्यादि के बँधन में न बँधने का परामर्श दिया है। साथ ही उन्होंने यह कहा है कि जैसे देह, कामिनी, धन इत्यादि में स्वाभाविक स्नेह होता है, वैसेही यदि रामचरणों में भी हो जाए तो मनुष्य को व्यर्थ के जंजालों में न उलझना पड़े। इस बात को तुलसीदास ने लौकिक उदाहरण दे—दे कर भगवान् से परा रति अर्थात् भक्ति करने का उपदेश दिया है। मनुष्य को अपने शरीर, आवास, पुत्र, धन और स्त्री से स्वभावतः प्रेम होता है।

किसी को सिखाना नहीं पड़ता। यदि ऐसा ही नैसर्गिक प्रेम राम से हो जाए तो भव बंधन से मुक्ति मिल जाए। इस प्रकार, तुलसीदास ने उन तत्त्वों के वर्जन का प्रभावी परामर्श दिया है जो श्रीराम की भक्ति में बाधक सिद्ध होते हैं। भक्त अपने आराध्य के प्रतिकूल कदापि नहीं जा सकता। वह अनन्यतापूर्वक भगवत्सेवा करता है। यदि कोई व्यक्ति भगवद्भक्त की निन्दा करता है तो वह नरक का अधिकारी होता है। भगवान् राम के प्रतिकूल व्यक्तियों, भावों, विचारों एवं मनोवृत्तियों का संपूर्ण त्याग करने वाले भक्त को संपूर्ण विश्व राममय प्रतीत होने लगता है। इस प्रकार भक्त को जीवन राममय लगे इसलिए तुलसीदास ने मनुष्य को उन मनोवृत्तियों को त्यागने का उपदेश दिया गया है जो राम के प्रतिकूल विचारों को जन्म देती हैं –

“श्रीहरि—गुरु—पद—कमल भजहु मन तजि अभिमान ।

जेहि सेवत पाइय हरि सुख—निधान भगवान ॥

परिवा प्रथम प्रेम बिनु राम—मिलन अति दूरि ।

जद्यपि निकट हृदय निज रहे सकल भरिपूरि ॥

दुइज द्वैत—मति छाड़ि चरहि महि—मंडल धीर ।

बिगत मोह—माया—मद हृदय बसत रघुबीर ॥

तीज त्रिगन—पर परम पुरुष श्रीरमन मुकुंद ।

गुन सुभाव त्यागे बिनु दुरलभ परमानंद ॥

चौथि चारि परिहरहु बुद्धि—मन—चित—अहंकार ।

बिमल बिचार परमपद निज सुख सहज उदार ॥

पाँचइ पाँच परस, रस, सब्द, गंध अरु रूप ।

इन्ह कर कहा न कीजिये, बहुरि परब भव—कूप ॥

छठ षटबरग करिय जय जनकसुता—पित लागि ।

रघुपति—कृपा—बारि बिनु नहिं बुताइ लोभागि ॥

सातैं सप्तधातु—निरमित तनु करिय बिचार ।

तेहि तनु केर एक फल, कीजै, पर—उपकार ॥

आठइँ आठ प्रकृति—पर निरबिकार श्री राम ।

केहि प्रकार पाइय हरि, हृदय बसहिं बहु काम ॥

नवमी नवद्वार—पुर बसि जेहि न आपु भल कीन्ह ।

ते नर जोनि अनेक भ्रमत दारुन दुख लीन्ह ॥  
 दसईँ दसहु कर संजम जो न करिय जिय जानि ॥  
 साधन बृथा होइ सब मिलहिं न सारँगपानि ॥  
 एकादसी एक मन बस कै सेवहु जाइ ॥  
 सोइ ब्रत कर फल पावै आवागमन नसाइ ॥  
 द्वादसि दान देहु अस, अभय होइ त्रैलोक ॥  
 परहित—निरत सो पारन बहुरि न ब्यापत सोक ॥  
 तेरसि तीन अवस्था तजहु, भजहु भगवंत ॥  
 मन—क्रम—बचन—अगोचर, ब्यापक, ब्याप्य, अनंत ॥  
 चौदसि चौदह भुवन अचर—चर—रूप गोपाल ॥  
 भेद गये बिनु रघुपति अति न हरहिं जग—जाल ॥  
 पूर्णों प्रेम—भगति—रस हरि—रस जानहिं दास ॥  
 सम, सीतल, गत—मान, ग्यानरत, बिषय—उदास ॥  
 त्रिबिध सूल होलिय जरै, खेलिय अब फागु ॥  
 जो जिय चहसि परमसुख, तौ यहि मारग लागु ॥  
 श्रुति—पुरान—बुध—संमत चाँचरि चरित मुरारि ॥  
 करि बिचार भव तरिय, परिय न कबहुँ जमधारि ॥  
 संसय—समन, दमन दुख, सुखनिधान हरि एक ॥  
 साधु—कृपा बिनु मिलहिं न, करिय उपाय अनेक ॥  
 भव सागर कहँ नाव सुद्ध संतन के चरन ॥  
 तुलसीदास प्रयास बिनु मिलहिं राम दुखहरन ॥<sup>65</sup>

अर्थात् हे मन! तू अभिमान छोड़कर भगवत्—रूपी श्री गुरु के चरणारविन्दों का भजन कर। जिनकी सेवा करने से आनन्दघन भगवान् श्रीहरि की प्राप्ति हो जाती है। जैसे प्रतिपदा (पक्ष में सबसे पहला दिन है) उसी प्रकार (सर्व साधनों में) प्रथम प्रेम है। प्रेम के बिना श्रीरामजी का मिलना बहुत दूर की बात है। यद्यपि वे बहुत ही निकट, सबके हृदय में ही पूर्णरूप से निवास करते हैं। धीर भाव से (अचंचलचित्त से) द्वितीया के समान दूसरा साधन यह है कि द्वैत—बुद्धि (ईश्वर और जीव में भेद—बुद्धि) छोड़कर (समदृष्टि से) समस्त पृथ्वी—मण्डल में (निश्चिन्त होकर) विचरण करना

चाहिये। मोह, माया और घमंड से रहित हृदय में सदा श्रीरघुनाथ जी निवास करते हैं। तृतीया के समान तीसरा उपाय यह है कि परम पुरुष, लक्ष्मीकान्त श्री मुकुन्द भगवान् तीनों गुणों से परे हैं। अतएव (सत्त्व, रज और तम) त्रिगुणमयी प्रकृति का त्याग कर देना चाहिये। ऐसा किये बिना परमानन्द की प्राप्ति दुर्लभ है। ( जब तक पुरुष प्रकृति में स्थित है तभी तक वह जीव है और तभी तक सुख-दुख का भोक्ता है। इस प्रकृति में से निकलकर स्व-स्थ-परमात्मारूपी स्व-रूप में स्थित होने से ही मोक्षरूप परमानन्द मिलता है)। चतुर्थी के समान (भगवत्-प्राप्ति का) चौथा साधन यह है कि बुद्धि, मन, चित्त और अहंकार— इनके समुदायरूप 'अन्तःकरण' का त्याग कर देना चाहिये। (जब तक शरीर है तब तक अन्तःकरण तो रहेगा ही, इसके त्याग का अर्थ यही है कि इसके साथ जो तादात्म्य हो रहा है उसे त्याग कर इसका दृष्टा बन जाय। अथवा इसे भगवान् के अर्पण करके इसके द्वारा केवल भगवत्-सम्बन्धी कार्य ही करे) ऐसा करने से निर्मल विवेक का उदय होगा, तब अपने आत्मस्वरूपरूपी उदार आनन्दघन परम पद की प्राप्ति होगी। पंचमी के अनुसार पाँचवाँ साधन यह है कि स्पर्श, रस, शब्द, गन्ध और रूप—इन पाँचों इन्द्रियों के विषयों के कहने में अर्थात् इनके अधीन हो कर नहीं चलना चाहिये, क्योंकि इनके वश होने से जीव को संसार रूपी अँधेरे-गहरे कुँ में गिरना पड़ेगा, (जन्म-मृत्यु के चक्र में पड़ना होगा)। षष्ठी के समान छठा उपाय यह है कि श्री जानकी नाथ श्री राम जी की प्राप्ति के लिये काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद और मात्सर्य—इन छः शत्रुओं को जीत लेना चाहिये। श्रीराम के कृपारूपी जल बिना लोभरूपी अग्नि नहीं बुझती (भगवत्कृपा जीव पर सदा है ही, अतः उस कृपा का अनुभव कर इन लोभादि शत्रुओं को मारना चाहिये)। सप्तमी के समान सातवाँ साधन यह है कि सात धातुओं (रस, रक्त, मांस, मेद, अस्थि, मज्जा और शुक्र)—से बने हुए इस (अपवित्र, क्षणभंगुर परन्तु दुर्लभ मनुष्य—) शरीर पर विचार करना चाहिये। इस शरीर का केवल एक यही फल है कि इससे परोपकार ही किया जाय। अष्टमी के समान आठवाँ उपाय यह है, कि निर्विकारस्वरूप श्रीरामचन्द्रजी अष्टधा जड़ (अपरा) प्रकृति (पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, मन, बुद्धि और अहंकार)—से परे हैं। अतएव जब तक हृदय में नाना प्रकार की कामनाएँ बनी हुई हैं तबतक वे कैसे मिल सकते हैं? नवमी के समान नवाँ साधन यह है कि जिसने इस नौ दरवाजे की

नगरी अर्थात् नौ छेदवाले शरीर में रहकर अपने आत्मा का कल्याण नहीं किया, वह अनेक योनियों में भटकता हुआ नाना प्रकार के दारुण दुःखों को प्राप्त होगा (इसलिये आत्मा के कल्याण के लिये ही प्रयत्न करना चाहिये)। दशमी के समान दसवाँ साधन यह है कि जिसने दसों इन्द्रियों का संयम करना नहीं जाना, इन्द्रियों को वश में नहीं किया, उसके सारे साधन निष्फल हो जाते हैं और उस इन्द्रियों के दास, असंयमी मनुष्य को भगवान् की प्राप्ति नहीं हो सकती। एकादशी के समान ग्यारहवाँ साधन यह है कि मनको वश में करके एक श्री भगवान् की ही सेवा करनी चाहिये। इसी से (परमार्थरूपी एकादशी) व्रत का जन्म-मरण के नाशरूप (परम) फल मिलता है। अर्थात् वह भगवान् को प्राप्त हो जाता है। द्वादशी के दिन दान दिया जाता है, अतः बारहवाँ साधन यह है कि ऐसा (भगवत्-प्रीत्यर्थ निष्काम बुद्धि से) दान देना चाहिये जिससे तीनों लोकों से भय न रहे (भगवत्प्राप्ति हो जाय) उस द्वादशीरूपी बारहवें साधन का पारण यही है कि सदा परोपकार में लगे रहना चाहिये। इस दान, और पारण से) फिर शोक नहीं व्यापता। त्रयोदशी के समान तेरहवाँ साधन यह है कि जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति-इन तीनों अवस्थाओं को त्याग कर भगवान् का भजन करना चाहिये (भाव यह कि नित्य-निरन्तर, सोते-जागते, श्रीभगवद्-भजन ही करना चाहिये)। भगवान् मन, कर्म और वाणी से जानने में नहीं आते, क्योंकि (बर्फ में जल की भाँति) वे ही सबमें व्याप्त हैं और (स्वप्न के दृश्यों की भाँति) स्वयं ही व्याप्य हो रहे हैं तथा असीम, अनन्त हैं (उनको तो वही जान सकता है जिसको कृपा पूर्वक वे जनाते हैं, उनकी कृपा का अनुभव नित्य -निरन्तर होने वाले भजन से होता है, अतः तीनों अवस्थाओं में भजन ही करना चाहिये)। चतुर्दशी के समान गो-पाल (इन्द्रियों के नियन्ता) भगवान् चराचर रूप से चौदहों भुवनों में रम रहे हैं। परन्तु जब तक, जीव की भेद-बुद्धि दूर नहीं होती तब तक श्री रघुनाथ जी संसाररूपी जाल को नहीं काटते जीव को जन्म-मरण से नहीं छुड़ाते (संसारबन्धन से छूटना हो तो अभेद-बुद्धि से भगवान् को भजना चाहिये)। पूर्णमासी के समान (भगवान् की प्राप्ति का) पंद्रहवाँ साधन, जो सर्वोत्कृष्ट और पूर्ण हैं, यह है कि प्रेम-भक्ति के रस में सराबोर होकर भक्त को श्रीहरिका रस-भगवान् का परम रहस्यमय तत्त्व जानना चाहिये। इसी से वह सर्वत्र, समदर्शी, शान्त, अहंकार रहित, ज्ञानस्वरूप और विषयों से उदासीन हो सकता है। (यहाँ गोसाईं जी ने

फाल्गुन—मास की पूर्णमासी का वर्णन किया है। यह पूर्णमासी और महीनों की पूर्णमासी से कहीं अधिक है, इस आनन्दमयी होली की फाल्गुनी पूर्णिमा के दिन) दैहिक, दैविक, भौतिक—इन तीनों तापों की होली जलाकर भगवान् के साथ (प्रेम की) खूब फाग खेलनी चाहिये (यही परम आनन्द की अवस्था है)। यदि तू इस परमानन्द की इच्छा करता है तो इसी मार्ग पर चल (इन्हीं साधनों में लग जा)। वेद, पुराण और विद्वानों का यही एक मत है कि भगवान् की लीलाओं का गान ही होली के गीत हैं। (खूब हरिकीर्तन करना चाहिये)। इन सब साधनों पर विचार करके संसार—सागर से तर जाना चाहिये। फिर कभी (भूलकर भी) यमलोक में ले जाने वाली विषयों की धारा में नहीं पड़ना चाहिये। सारे सन्देहों के नाश करने वाले, दुखों को दूर करने वाले और सुख के निधान केवल एक श्रीहरि ही हैं। चाहे जितने ही उपाय कर लो, संतों की कृपा के बिना वे नहीं मिल सकते (अतः संत—कृपा ही सर्व साधनों में प्रधान है)। संसाररूपी समुद्र से तरने के लिये संतों के पवित्र चरण ही नौका हैं। हे तुलसीदास! (इस नौका पर चढ़कर अर्थात् संतों के चरणों की सेवा करने से) दुःखों के नाश करने वाले श्रीरामचन्द्र जी बिना ही परिश्रम के मिल जायेंगे।” इस प्रकार तुलसीदास लिखते हैं कि मनुष्य जन्म पाकर व्यक्ति को हर समय ऐसे कार्य करने चाहिए जो भक्ति मार्ग की ओर ले जाये। संतों का संग करना चाहिए जिससे भगवद् भक्ति में सहायता मिले तथा जीवन पथ आसानी से ईश्वर का गुणगान करते हुए व्यतीत हो। सांसारिक सुखों का त्याग कर देना चाहिए क्योंकि सांसारिक आकर्षण भक्ति मार्ग में व्यवधान उपस्थित करते हैं। अतः तुलसीदास जीवन को हरि भक्ति से ओतप्रोत करने के लिए संत—सेवा को सभी साधनों में प्रधान मानते हैं तथा संतों के सानिध्य से बिना ही परिश्रम के हरि मिल जाते हैं जो कि भवसागर से पलक—झपकते ही पार लगा देते हैं। अतः मनुष्य को संतों के चरणों की सेवा करनी चाहिए। संतों का हृदय पवित्र तथा भक्ति से ओत—प्रोत होने के कारण वे मनुष्य को संसार से निकालकर ईश्वर भजन में अनुरक्त करते हैं।

### रक्षा का विश्वास—

जिसका अर्थ है— भक्त को अपने आराध्य पर पूर्ण विश्वास होना कि मेरी रक्षा तो मेरे प्रभु ही करेंगे क्योंकि वे ही समर्थ है। भक्त को एकमात्र अपने भगवान् पर ही भरोसा है।

**“कृष्ण कृष्ण महाबाहो भक्तानामभयङ्कर ।**

**त्वमे को दह्यमानानामपवर्गोऽसि संसृतेः ।।”<sup>66</sup>**

अर्थात् श्री कृष्ण! तुम सच्चिदानन्द स्वरूप परमात्मा हो। तुम्हारी शक्ति अनन्त है। तुम्हीं भक्तों को अभय देने वाले हो। जो संसार की धधकती हुई आग में जल रहे हैं, उन जीवों को उससे उबारने वाले एकमात्र तुम्हीं हो। इसी प्रकार का एक और उदाहरण निम्न हैं—

**“पाहि पाहि महायोगिन्देवदेव जगत्पते ।**

**नान्यं त्वदमयं पश्ये यत्र मृत्युः परस्परम् ।।”<sup>67</sup>**

अर्थात् देवाधिदेव! जगदीश्वर! आप महायोगी हैं। आप मेरी रक्षा कीजिये, रक्षा कीजिये। आपके अतिरिक्त इस लोक में मुझे अभय देने वाला और कोई नहीं है; क्योंकि यहाँ सभी परस्पर एक-दूसरे की मृत्यु के निमित्त बन रहे हैं। इस प्रकार भक्त केवल अपने आराध्य पर भरोसा करता है, कि प्रभु आप ही एकमात्र समर्थ हैं। आप ही मेरी रक्षा कर सकते हैं।

**“कृष्ण कृष्ण महाभाग त्वन्नाथं गोकुलं प्रभो ।**

**त्रातुमर्हसि देवान्नः कृपिताद् भक्तवत्सल ।।”<sup>68</sup>**

अर्थात् और बोले—प्यारे श्रीकृष्ण! तुम बड़े भाग्यवान् हो। अब तो कृष्ण! केवल तुम्हारे ही भाग्य से हमारी रक्षा होगी। प्रभो! इस सारे गोकुल के एकमात्र स्वामी, एकमात्र रक्षक तुम्हीं हो। भक्तवत्सल। इन्द्र के क्रोध से अब तुम्हीं हमारी रक्षा कर सकते हो। इस प्रकार भक्त को अपनी कठिन से कठिन परिस्थिति में यह विश्वास रहता है कि प्रभु उसकी रक्षा करेंगे। इस प्रकार भगवान् की रक्षण-शक्तियों में भक्त का अटल विश्वास होना ही रक्षा का विश्वास है। भक्त का यह अडिग विश्वास होता है कि भगवान् उसकी सदा रक्षा करेंगे, वे प्रणतपाल एवं शरणागत रक्षक जो हैं। “यही तत्त्व है जो प्रपन्न साधक में पूर्ण आस्तिकता का प्रवर्तन करता है।”<sup>69</sup> कबीर की बानियों में सर्वत्र इस अंग के उदाहरण मिलते हैं—

**“अब मोहि राम भरोसो तेरा, और कौन का करौं निहोरा”<sup>70</sup>**

इस प्रकार भक्त को अपनी कठिन से कठिन परिस्थिति में यह विश्वास रहता है कि प्रभु उसकी रक्षा करेंगे। संसार में माता, पिता, बन्धु, पुत्र, सम्बन्धी—सब भले ही साथ छोड़ दें, विश्वासघाती बन बैठें, पर प्रभु साथ नहीं छोड़ेंगे—यह विश्वास जीवन-यात्रा

में भक्त के लिए सम्बल का कार्य करता है। भगवान् की रक्षण-शक्तियों में भक्त का अटल विश्वास होना ही रक्षा का विश्वास है। भक्त को अपने भगवान् में विश्वास होता है तभी तो वह संसार (अनित्य) को छोड़कर ईश्वर (नित्य) के चरणों की शरण लेता है। वह जानता है कि मेरे भगवान् मुझे जरूर अपनायेंगे क्योंकि वे शरणागतवत्सल हैं और शरण में आने पर भक्त को अपने गले से लगा लेते हैं तथा उसे भवसागर से पार कर देते हैं। ईश्वर में दृढ़ विश्वास का होना ही रक्षिष्यतीति विश्वासः है। “भक्त का यह अडिग विश्वास है कि भगवान् रक्षक हैं, वे सदा से भक्तों की रक्षा करते आये हैं और करेंगे। भगवान् को भक्ति के आलंबनरूप में ग्रहण करने के लिए भक्त के मन में इस महाविश्वास का होना आवश्यक है।”<sup>71</sup> तुलसी को अपने राम पर अडिग विश्वास है। सूर की रचनाओं में रक्षा का यह दृढ़ विश्वास विद्यमान है—

“जाकौँ मन मोहन अंग करै।

ताकौँ केस खसै नहिँ सिर तै, जौ जग बैर परै ॥

हिरनकसिपु—परहार थक्यौ, प्रहलाद न नैकुँ डरै।

अजहूँ लागि उत्तानपाद—सुत, अविचल राज करै।

राखी लाज द्रुपद तनया की, कुरुपति चीर हरै।

दुरजोधन कौ मान भंग करि बसन—प्रवाह भरै।

जौ सुरपति कोप्यौ ब्रज ऊपर क्रोध न कछू सरै।

ब्रज—जन राखि नंद कौ लाला, गिरिधर बिरद धरै।

जाको विरद है गर्ब—प्रहारी, सो कैसै बिसरै?

सूरदास भगवंत—भजन करि, सरन गए उबरै ॥”<sup>72</sup>

अर्थात् “जिसको श्री कृष्ण अपना लें, उसके केश सिर से खिसकते नहीं चाहे संसार उससे शत्रुता कर ले। हिरण्यकश्यप प्रहार करते हुए थक गया किन्तु प्रहलाद तनिक भी न डरा। (प्रभु कृपा से) आज भी (राजा) उत्तानपाद के पुत्र (ध्रुव) अविचल राज्य कर रहे हैं। जब कुरुपति साड़ी खींच रहे थे तब (प्रभु ने) द्रुपदकन्या (द्रौपदी) की लज्जा रखी। दुर्योधन के मान को भंग करके वस्त्र के प्रवाह को (पूर्णरूप से) भर दिया। जब देवराज (इन्द्र) ने ब्रज पर क्रोध किया तब उनके क्रोध से कुछ भी प्रभाव न पड़ा। श्री कृष्ण ने गोवर्धन को धारण करके ब्रजवासियों की रक्षा की



जिससे उनकी बड़ाई बढ़ी। जिसका यश ही घमंड को चूर करनेवाला है, उसे कैसे भूला जाय? सूरदास कहते हैं—भगवान् का भजन करो, उनकी शरण में जाने से ही मुक्ति मिलती है।<sup>73</sup> इस प्रकार सूरदास कहते हैं कि मनुष्य जन्म पाकर आयु को व्यर्थ नहीं गवाँना चाहिए। हर समय भगवान् का भजन करते रहना चाहिए। प्रभु के चरणों में जाने से सभी विषय—विकार स्वतः नष्ट हो जाते हैं तथा आत्मा निर्मल होकर प्रभु प्रेम में सरोबार हो जाती है। इस प्रकार भक्त का अपने आराध्य पर भरोसा रखना ही रक्षिष्यतीति विश्वासः है। इसी प्रकार तुलसी को अपने आराध्य राम पर दृढ़ विश्वास है। वे अपने भगवान् राम को जीवन का आधार मानते हैं, उन्हें राम की रक्षा पर पूर्ण विश्वास है। तुलसी ने लिखा है कि जब भगवान् राम ने बड़े—बड़े आर्तों एवं अनाथों की रक्षा की है तो वे भला तुलसी की रक्षा क्यों न करेंगे, ऐसे अडिग विश्वास से ओत—प्रोत प्रस्तुत पद(226)—

“भरोसो जाहि दूसरो सो करो।

मोको तो राम को नाम कलपतरु कलि कल्याण फरो।।

करम उपासन, ग्यान, बेदमत, सो सब भाँति खरो।

मोहि तो 'सावन के अंधहि' ज्यों सूझत रंग हरो।।

चाटत रह्यो स्वान पातरि ज्यों कबहुँ न पेट भरो।

सो हौं सुमिरत नाम—सुधारस पेखत परुसि धरो।।

स्वारथ औ परमारथ हू को नहि कुंजरो—नरो।

सुनियत सेतु पयोधि पषाननि करि कपि कटक—तरो।।

प्रीति—प्रतीति जहाँ जाकी, तहँ ताको काज सरो।

मेरे तो माय—बाप दोउ आखर, हौं सिसु—अरनि अरो।।

संकर साखि जो राखि कहौं कछु तौ जरि जीह गरो।

अपनो भलो राम—नामहि ते तुलसिहि समुझि परो।।<sup>74</sup>

अर्थात् जिसे दूसरे का भरोसा हो, सो करे। मेरे लिये तो इस कलियुग में एक राम—नाम ही कल्पवृक्ष है, जिसमें कल्याणरूपी फल फला है। भाव यह कि राम—नाम से ही मुझे तो यह भगवत् प्रेम प्राप्त हुआ है। यद्यपि कर्म, उपासना और ज्ञान—ये वैदिक सिद्धान्त सभी प्रकार से सच्चे हैं, किन्तु मुझे तो, सावन के अन्धे की भाँति, जहाँ देखता हूँ वहाँ हरा—ही—हरा रंग दीखता है। (एक राम—नाम ही सूझ रहा है)।

मैं कुत्ते की नाई (अनेक जूँटी) पत्तलों को चाटता फिरा, पर कभी मेरा पेट नहीं भरा। आज मैं नाम—स्मरण करने से अमृतरस परोसा हुआ देखता हूँ। (मैंने अनेक देवभोग्य भोग भोगे, परन्तु कहीं तृप्ति नहीं हुई। पूर्ण, नित्य परमानन्द कहीं नहीं मिला। अब श्री राम—नाम का स्मरण करते ही मैं देख रहा हूँ, कि मुक्ति का थाल मेरे सामने परोसा रखा है अर्थात् ब्रह्मानन्दरूप मोक्ष पर तो मेरा अधिकार ही हो गया। परोसी थाली के पदार्थ को जब चाहूँ तब खा लूँ, इसी प्रकार मोक्ष तो जब चाहूँ तभी मिल जाय। परन्तु मैं तो मुक्त पुरुषों की कामना की वस्तु श्री राम—प्रेम—रस का पान कर रहा हूँ।) मेरे लिये राम—नाम स्वार्थ और परमार्थ दोनों का ही साधक है, (मुक्तिरूपी स्वार्थ और भगवत्प्रेमरूपी परम अर्थ दोनों ही मुझे श्री राम—नाम से मिल गये)। यह बात 'हाथी है या मनुष्य' की —सी दुविधा भरी नहीं है, (क्योंकि मुझे तो प्राप्त है)। मैंने सुना है कि इसी नाम के प्रभाव से बंदरों की सेना पत्थरों का पुल बनाकर समुद्र को पार कर गयी थी। जहाँ जिसका प्रेम और विश्वास है, वहीं उसका काम पूरा हुआ है। (इसी सिद्धान्त के अनुसार) मेरे तो माँ—बाप ये दोनों अक्षर—'र' और 'म' — हैं। मैं तो इन्हीं के आगे बालहठ से अड़ रहा हूँ, मचल रहा हूँ। यदि मैं कुछ भी छिपाकर कहता होऊँ तो भगवान् शिवजी साक्षी हैं, मेरी जीभ जलकर या गलकर गिर जाय। (यह 'कवि—कल्पना' या अत्युक्ति नहीं है, सच्ची स्थिति का वर्णन है) यही समझ में आया कि अपना कल्याण एक राम—नाम से ही हो सकता है। इस प्रकार तुलसीदास अपने आराध्य श्रीराम को अपने जीवन का आधार मानते हैं उन्होंने अपना सम्पूर्ण प्रेम एकत्रित करके भगवान् श्रीराम के चरणों में लगा दिया है, क्योंकि उनको केवल अपने प्रभु में आसक्ति है। संसार को वे असत्य समझते हैं तथा नश्वर मानकर त्यागने का संदेश देते हैं। इस प्रकार जहाँ जिसका प्रेम और विश्वास है, वहीं उसका काम पूरा हुआ है। इसलिए तुलसीदास अपने आराध्य श्रीराम पर पूर्ण भरोसा रखते हैं—

**“भरोसो और आइहै उर ताके।**

**कै कहूँ लहै जो रामहि—सो साहिब, कै अपनो बल जाके ॥**

**कै कलिकाल कराल न सूझत, मोह—मार—मद छाके।**

**कै सुनि स्वामि—सुभाउ न रह्यो चित, जो हित सब अँग थाके ॥**

**हौँ जानत भलिभाँति अपनपौ, प्रभु—सो सुन्यो न साके।**

उपल, भील, खग, मृग, रजनीचर, भले भये करतब काके ।।

मोको भलो राम—नाम सुरतरु—सो, रामप्रसाद कृपालु कृपा के ।

तुलसी सुखी निसोच राज ज्यों बालक माय—बबा के ।।<sup>75</sup>

अर्थात् उसी के मनमें किसी दूसरे का भरोसा होगा, जिसे या तो कहीं श्रीरामचन्द्रजी के समान कोई दूसरा मालिक मिल गया हो, या जिसके अपने साधन आदि का बल हो (मुझे न तो कोई ऐसा मालिक ही मिला है, और न किसी प्रकार का साधन—बल ही है)। अथवा जिसे अज्ञान, काम और अभिमान में मतवाला हो जाने के कारण कराल कलिकाल न सूझता हो अथवा जिसके चित्त पर सब प्रकार से (साधन करके, और इधर—उधर भटककर) थके हुए लोगों के हितकारी स्वामी रामचन्द्रजी का (दीन और शरणागतवत्सल) स्वभाव सुनने पर भी उसका स्मरण न रहा हो। (मुझे तो अपने स्वामी के दयालु स्वभाव का सदा ध्यान बना रहता है)। मैं तो अपने (क्षुद्र) पुरुषार्थको भी भलीभाँति जानता हूँ, एवं मैंने श्री रधुनाथजी के अतिरिक्त और किसी स्वामी की ऐसी कीर्ति भी नहीं सुनी (जो इस तरह महापापी शरणागतों को अपना लेता हो)। पत्थर की (अहल्या), भील, पक्षी (जटायु), मृग (मारीच) और राक्षस (विभीषण) इन सबों में किसके कर्म शुभ थे? (किन्तु भगवान् ने इन सबका उद्धार कर दिया)। मेरे लिये तो एक राम—नाम ही कल्पवृक्ष हो गया है, और वह कृपालु श्रीरामचन्द्र जी की कृपा से हुआ है। (इसमें भी मेरा कोई पुरुषार्थ नहीं है)। अब तुलसी इस अनुग्रह के कारण ऐसा सुखी और निश्चिन्त है, जैसे कोई बालक अपने माता—पिता के राज्य में होता है।” इस प्रकार तुलसीदास को अपने आराध्य की शरण में आने पर परम प्रसन्नता हो रही है। भगवान् मेरी रक्षा करेंगे तुलसी इस अनुग्रह के कारण सुखी और निश्चिन्त हैं। उन्हें अपने प्रभु के अलावा किसी दूसरे का भरोसा नहीं है। उनको अपने भगवान् के शरणागतवत्सल रूप का हमेशा स्मरण रहता है अतः वे अपने प्रभु को छोड़कर अन्य किसी का भरोसा नहीं करते—

“नाम राम रावरोई हित मेरे ।

स्वारथ—परमारथ साथिन्ह सों भुज उठाइ कहाँ टेरे ।।

जननी—जनक तज्यो जनमि, करम बिनु बिधिहु सृज्यो अवडरे ।

मोहुँसो कोउ—कोउ कहत रामहि को, सो प्रसंग केहि केरे ।।

फिरयौ ललात बिनु नाम उदर लागि, दुखउ दुखित मोहि हेरे ।

नाम—प्रसाद लहत रसाल—फल अब हौं बबुर बहेरे ॥  
साधत साधु लोक—परलोकहि, सुनि गुनि जतन घनेरे ।  
तुलसी के अवलंब नामको, एक गाँठि कइ फेरे ॥”<sup>76</sup>

अर्थात् हे रामजी! आपका नाम ही मेरा तो कल्याण करने वाला है। यह बात मैं हाथ उठाकर स्वार्थ के और परमार्थ के सभी संगी—साथियों से (परिवार के लोगों से और साधकों से) पुकारकर कहता हूँ (घोषणा कर रहा हूँ)। माता—पिता ने तो मुझे उत्पन्न करके ही छोड़ दिया था ब्रह्मा ने भी अभाग्य और कुछ बेढब—सा बनाया था। फिर भी कोई—कोई मुझे ‘रामका’ (दास) कहते हैं, यह किस अभिप्राय से कहते हैं? (यह राम—नामका ही प्रताप है)। जब मैं राम—नाम के शरण नहीं हुआ था तब मैं पेट भरने को (द्वार—द्वारपर) ललचाता फिरता था। मेरी ओर देखकर दुःख को भी दुःख होता था (मेरी ऐसी बुरी दशा थी)। श्रीराम की कृपा से पहले मेरे लिये जो बबूल और बहेड़े के वृक्ष थे, उन्हीं पेड़ों से मुझे अब आम के फल मिल रहे हैं। (जहाँ जगत् दुःखों से भरा भासता था वहाँ आज सब ‘सीय—रामरूप’ दीखने के कारण वही सुखमय हो गया है)। संतजन तो (शास्त्रों को) सुनकर और (उसके अनुसार) मननकर अनेक साधनों से अपना लोक और परलोक बना लेते हैं, परन्तु तुलसी के तो एक रामनाम का ही अवलम्बन है। जैसे गाँठ तो एक ही होती है, लपेटे चाहे जितने हों (इसी प्रकार साधन चाहे जितने हों, सबका आधार तो एक राम—नाम ही है)। इस प्रकार तुलसीदास अपने राम को ही सब कार्यों के कर्ता मानते हैं तथा अपने जीवन का आधार मानते हैं। राम को पाकर ही उनका जीवन सुखमय तथा आनन्ददायक हुआ है।

**गोप्तृत्ववरण—**

गोप्तृत्ववरण भगवान् को रक्षक रूप में स्वीकार कर लेना गोप्तृत्व—वरण है। कष्ट निवारणार्थ भक्त मात्र भगवच्छरण में जाता है क्योंकि वह उन्हें ही एकमात्र अपना रक्षक मानता है—

“नूनं त्वद्वान्धवाः कृष्ण न चार्हन्त्यवसीदितुम् ।  
वयं हि सर्वधर्मज्ञ त्वन्नाथास्त्वत्परायणाः ॥ ”<sup>77</sup>

अर्थात् श्री कृष्ण! जिनके तुम्हीं भाई —बन्धु और सब कुछ हो, उन्हें तो किसी प्रकार का कष्ट नहीं होना चाहिये। सब धर्मों के ज्ञाता श्यामसुन्दर! तुम्हीं हमारे एकमात्र रक्षक एवं स्वामी हो; हमें केवल तुम्हारा ही भरोसा है।।

इसी प्रकार का एक और उदाहरण निम्न है—

“अप्यद्य नस्त्वं स्वकृतेहित प्रभो जिहाससि स्वित्सुहृदोऽनुजीविनः।

येषां न चान्यद्भक्तः पदाम्बुजात् परायणं राजसु योजितांहसाम्।।”<sup>78</sup>

अर्थात् भक्तवाञ्छाकल्पतरु प्रभो! क्या अब आप अपने आश्रित और सम्बन्धी हम लोगों को छोड़कर जाना चाहते हैं। आप जानते हैं कि आपके चरण—कमलों के अतिरिक्त हमें और किसी का सहारा नहीं है। पृथ्वी के राजाओं के तो हम यों ही विरोधी हो गये हैं। इस प्रकार भगवान् को रक्षक रूप में वरण करना गोप्तृत्ववरण है। “भक्त भगवान् के रक्षक—रूप की कल्पना मात्र करके संतोष नहीं कर लेता। वह उसका अपने रक्षक—रूप में वस्तुतः वरण भी करता है। यह मानवमात्र की सहज प्रवृत्ति है कि वह कष्टों से त्राण पाने के लिए समर्थ की शरण में जाता है। भक्त की दृष्टि में तो सर्वसमर्थ भगवान् ही गोप्ता हैं।”<sup>79</sup> प्रभु में अनन्त शक्तियाँ हैं, जो भक्त के कल्याण में काम आती हैं। प्रभु बहुत दयालु हैं। शरण में आने पर उसका तुरन्त उद्धार कर देते हैं। प्रभु के इस करुणामय रूप ही को भक्त अपने हृदय में धारण करता है। निम्नांकित पंक्तियाँ भी गोप्तृत्व वरण का अभिव्यंजन करती हैं—

“हमारे निर्धन के धन राम।

चोर न लेत, घट नहीं कबहूँ, आबत गाढें काम।

जल नहीं बूडत, अगिनि न दाहत, है ऐसो हरि—नाम।

बैकुंठनाथ सकल सुख—दाता, सूरदास—सुख—धाम।।”<sup>80</sup>

अर्थात् “मुझ गरीब के राम ही सर्वस्व धन हैं। इसे चोर नहीं चुराता, यह कभी घटता भी नहीं तथा मुश्किल के दिनों में काम आता है। यह जल में नहीं डूबता; इसे अग्नि नहीं जला सकती। इस प्रकार यह हरि नाम (अत्यन्त प्रभावकारी) है। सूरदास के सुख के आगार वैकुण्ठवासी भगवान् सभी सुखों को प्रदान करने वाले हैं।”<sup>81</sup> इस प्रकार सूरदास लिखते हैं कि हरि—नाम अत्यन्त प्रभावकारी हैं जिसे संसार के पदार्थ नष्ट नहीं कर सकते। क्योंकि ईश्वर नित्य हैं। संसार अनित्य हैं। अतः हरिनाम को कोई नष्ट नहीं कर सकता वह सर्वव्यापक है। इसलिए संसार से पार उतरने के

लिए भगवान् को गोप्त के रूप में वरण करना बड़ा आवश्यक है। तुलसीदास भगवान् से कहते हैं —

“कृपा सो धौं कहाँ बिसारी राम।

जेहि करुना सुनि श्रवन दीन—दुख, धावत हौ तजि धाम॥

नागराज निज बल बिचारि हिय, हारि चरन चित दीन्हों।

आरत गिरा सुनत खगपति तजि, चलत बिलंब न कीन्हों॥

दितिसुत—त्रास—त्रसित निसिदिन प्रहलाद—प्रतिग्या राखी।

अतुलित बल मृगराज—मनुज—तनु दनुज हत्यो श्रुति साखी॥

भूप—सदसि सब नृप बिलोकि प्रभु, राखु कह्यो नर—नारी।

बसन पूरि, अरि—दरप दूरि करि, भूरि कृपा दनुजारी॥

एक एक रिपुते त्रासित जनु तुम राखे रघुबीर।

अब मोहिं देत दुसह दुख बहु रिपु कस न हरहु भव—पीर॥

लोभ—ग्राह, दनुजेस—क्रोध, कुरुराज—बंधु खल मार।

तुलसिदास प्रभु यह दारुन दुख भंजहु राम उदार॥”<sup>82</sup>

अर्थात् हे श्रीरामजी! आपने उस कृपा को कहाँ भुला दिया, जिसके कारण दीनों के दुःख की करुण—ध्वनि कानों में पड़ते ही आप अपना धाम छोड़कर दौड़ा करते हैं। जब गजेन्द्र ने अपने बल की ओर देखकर और हृदय में हार मानकर आपके चरणों में चित्त लगाया, तब आप उसकी आर्त्त पुकार सुनते ही गरुड़ को छोड़कर तुरंत वहाँ पहुँचे, तनिक—सी भी देर नहीं की। हिरण्यकशिपु से रात—दिन भयभीत रहने वाले प्रहलाद की प्रतिज्ञा आपने रखी, महान् बलवान् सिंह और मनुष्यका—सा (नृसिंह) शरीर धारण कर उस दैत्य को मार डाला, वेद इस बात का साक्षी है। ‘नर’ के अवतार अर्जुन की पत्नी द्रौपदी ने जब राजसभा में (अपनी लज्जा जाते देखकर) सब राजाओं के सामने पुकारकर कहा कि ‘हे नाथ! मेरी रक्षा कीजिये’ तब हे दैत्यशत्रु! आपने वहाँ (द्रौपदी की लाज बचाने को) वस्त्रों के ढेर लगाकर तथा शत्रुओं का सारा घमंड चूर्णकर बड़ी कृपा की। हे रघुनाथ जी! आपने इन सब भक्तों को एक—एक शत्रु के द्वारा सताये जाने पर ही बचा लिया था। पर यहाँ मुझे तो बहुत—से शत्रु असह्य कष्ट दे रहे हैं। मेरी यह भव—पीड़ा आप क्यों नहीं दूर करते? लोभ रूपी मगर, क्रोधरूपी दैत्यराज हिरण्यकशिपु, दुष्ट कामदेव रूपी दुर्योधन का

भाई दुःशासन, ये सभी मुझ तुलसीदास को दारुण दुःख दे रहे हैं। हे उदार रामचन्द्रजी ! मेरे इस दारुण दुःख का नाश कीजिये।” इस प्रकार तुलसीदास लिखते हैं कि जब गजेन्द्र, प्रह्लाद तथा द्रौपदी ने, ‘मेरी रक्षा कीजिए’ कहकर पुकारा था तो आप तुरन्त दौड़ गये थे। उन तीनों के एक-एक ही शत्रु थे लेकिन जब तुलसी को लोभरूपी ग्राह, क्रोधरूपी हिरण्यकशिपु तथा कामदेवरूपी दुःशासन—तीनों दारुण दुःख दे रहे हैं तो भगवान् इतना विलम्ब क्यों कर रहे हैं? इस प्रकार तुलसी को अपने राम पर पूरा भरोसा है तथा इस संसार से पार उतरने के लिए भगवान् को गोप्तृ के रूप में पुकार रहे हैं। हे नाथ! मेरी रक्षा करो। मुझे इस भवसागर से पार करो। क्योंकि केवल आप ही समर्थ है। तुलसी‘राम’ को अपने जीवन का आधार मानते हैं। राम की शरण में जाना ही तुलसी का लक्ष्य है। यही सच्ची भक्ति है।

“ऐसी कौन प्रभु की रीति?

बिरद हेतु पुनीत परिहरि पाँवरनि पर प्रीति ॥  
 गई मारन पूतना कुच कालकूट लगाइ ।  
 मातुकी गति दर्ई ताहि कृपालु जादवराइ ॥  
 काममोहित गोपिकनिपर कृपा अतुलित कीन्ह ।  
 जगत—पिता बिरंचि जिन्ह के चरन की रज लीन्ह ॥  
 नेमतेँ सिसुपाल दिन प्रति देत गनि गनि गारि ।  
 कियो लीन सु आपमें हरि राज—सभा मँझारि ॥  
 ब्याध चित दै चरन मारयो मूढमति मृग जानि ।  
 सो सँदेह स्वलोक पठयो प्रगट करि निज बानि ॥  
 कौन तिन्हकी कहै जिन्हके सुकृत अरु अघ दोउ ।  
 प्रगट पातकरूप तुलसी सरन राख्यो सोउ ॥”<sup>83</sup>

अर्थात् (भगवान् के सिवा) और किस स्वामी की ऐसी रीति है जो अपने विरद के लिये पवित्र जीवों को छोड़कर पामरों पर प्रेम करता हो? राक्षसी पूतना स्तनों में विष लगाकर उन्हें (भगवान् कृष्ण को) मारने गयी थी, किन्तु कृपालु यादवेन्द्र श्री कृष्ण ने उसे माता की—सी गति प्रदान की (उसका उद्धार कर दिया)। आपने काममोहित गोपियों पर ऐसी अतुल कृपा की कि जगत्पिता ब्रह्मा ने भी उनके चरणों

की धूलि (अपने मस्तक पर) चढ़ायी। जो शिशुपाल नियम से प्रतिदिन गिन-गिनकर गालियाँ देता था उसको आपने राजाओं की सभा में (पाण्डवों के राजसूय-यज्ञ में) सबके देखते-देखते अपने में ही मिला लिया। मूर्ख बहेलिये ने तो मृग समझकर आपके चरण में निशाना लगाकर (बाण) मारा, पर उसे भी आपने अपनी दयालुता की बान प्रकट करके सदेह अपने परमधाम को भेज दिया। (इस प्रकार के जीवों ने) जिन्होंने पुण्य और पाप दोनों ही किये हैं उनके लिये तो क्या कही जाय? (क्योंकि उनका तो सद्गतिपाने का कुछ-न-कुछ अधिकार ही था) किन्तु उन्होंने तो प्रत्यक्ष पापमूर्ति तुलसी को भी शरण में रख लिया है (इसीसे उनकी बान प्रत्यक्ष सिद्ध हो जाती है)।” इस प्रकार तुलसीदास ने प्रायः प्रत्येक स्थल पर विष्णु-शिव-राम-कृष्ण इत्यादि के ऐक्य का प्रतिपादन किया है। भगवान् को रक्षक-रूप में अपनाने के पश्चात् भक्त को सरलतापूर्वक भक्ति का वरदान मिल जाता है। जब भगवान् ने पूतना जैसी राक्षसी गोपिकाओं जैसी कामविमोहिताओं, शिशुपाल जैसे दुष्ट और बहेलिये (जिसने कृष्णावतार में भूल से भगवान् के चरणों को मृग समझकर बाणसे बेध दिया था) जैसे अपराधी को भी शरण में ले लिया था, तब तुलसीदास को विशेष आश्चर्य नहीं हुआ था, क्योंकि इन लोगों ने पाप किए थे, तो कुछ-न-कुछ पुण्य भी अवश्य किए थे। तुलसी को तो आश्चर्य इस बात का है कि भगवान् ने केवल पाप कमाने वाले तुलसी को कैसे अपनी शरण में ले लिया! वस्तुतः जो भक्त भगवान् का रक्षक-रूप में वरण करता है, वह उनकी शरणागत को भी प्राप्त करता है। इस प्रकार तुलसी ने ‘विनयपत्रिका’ में बारंबार राम को रक्षक-रूप में अपनाने का कारण दिया है— राम एकमात्र एवं अद्वितीय रक्षक हैं, उनका स्थान अन्य कोई देवी-देवता नहीं ले सकता। तुलसी को एकमात्र राम-नाम पर ही विश्वास है। उनका मन अन्य किसी आराध्य को अपनाने के लिए तैयार ही नहीं होता। इसी प्रकार का एक पद्य निम्न हैं—

“बिस्वास एक राम-नाम को।

मानत नहिं परतीति अनत ऐसोइ सुभाव मन बाम को।।

पढ़िबो परयो न छठी छ मत रिगु जजुर अथर्वन सामको।

ब्रत तीरथ तप सुनि सहमत पचि मरै करै तन छाम को?।।

करम-जाल कलिकाल कठिन आधीन सुसाधित दाम को।



ग्यान बिराग जोग जप तप, भय लोभ मोह कोह काम को ।।

सब दिन सब लायक भव गायक रघुनायक गुन—ग्राम को ।

बैठे नाम—कामतरु—तर डर कौन घोर घन घामको ।।

को जानै को जैहै जमपुर को सुरपुर पर धामको ।

तुलसिहिं बहुत भलो लागत जग जीवन रामगुलामको ।।<sup>84</sup>

अर्थात् मुझे तो एक राम—नाम का ही विश्वास है। मेरे कुटिल मन का कुछ ऐसा ही स्वभाव है कि वह और कहीं विश्वास ही नहीं करता। छः (न्याय, वैशेषिक, सांख्य, योग, मीमांसा, वेदान्त) शास्त्रों का तथा ऋक्, यजु, अथर्वण और साम वेदों का पढ़ना तो मेरी छठी में ही नहीं पड़ा (भाग्य में ही नहीं लिखा गया) है, और व्रत, तीर्थ, तप आदि का तो नाम सुनकर मन डर रहा है। कौन (इन साधनों में) पच—पचकर मरे या शरीर को क्षीण करे? कर्मकाण्ड (यज्ञादि) कलियुग में कठिन है और उसका होना भी धनके अधीन है। (अब रहे) ज्ञान, वैराग्य, योग, जप और तप आदि साधन, सो इनके करने में काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि का भय लगा है। इस भव (संसार)—में श्रीरघुनाथजी के गुणसमूह को गाने वाले ही सदा सब प्रकार से योग्य हैं। जो राम—नाम रूपी कल्पवृक्ष की छाया में बैठे हैं, उन्हें घनघोर घटा (तमोमय अज्ञान) अथवा तेज धूप (विषयों की चकाचौंध)—का क्या डर है? भाव यह है कि वे अज्ञान के वश होकर विषयों में नहीं फँस सकते। इससे पाप—तप उनसे सदा दूर रहते हैं। कौन जानता है कि कौन नरक जायगा, कौन स्वर्ग जायगा और कौन परमधाम जायगा? तुलसीदास को तो इस संसार में रामजी का गुलाम होकर जीना ही बहुत अच्छा लगता है। "इस प्रकार तुलसीदास केवल अपने आराध्य के दास बनकर रहना चाहते हैं। प्रायः तुलसीदास आत्मपरक शैली में वस्तुपरक विचार व्यक्त करते हैं। साधारण भक्त के लिए कलिकाल में छहों सिद्धान्तों एवं चतुर्वेद का एकाग्रचित होकर अध्ययन करना संभव नहीं है। व्रत, तीर्थाटन आदि के व्यूह में फँसना भक्ति की ओर उन्मुख मन को कदापि स्वीकार न होगा। कलिकाल में पूर्णविधि से कर्मकाण्ड करना असंभव प्राय है। ज्ञान, योग आदि की साधना भी अहंकार जन्य काम, क्रोध इत्यादि शत्रुओं के कारण नहीं हो पाती। इसलिए कलियुग में भगवान् श्री राम के गुणों का कीर्तन करना ही सर्वश्रेष्ठ उपाय माना गया है। रामनाम रूपी कल्पवृक्ष की छाया तले घनघोर घटा या तेज धूप का कोई भय नहीं

रहता। भगवान् राम का रक्षक—रूप में वरण कर लेने के उपरान्त भौतिक एवं मानसिक विपत्तियाँ सता नहीं सकती। अतः तुलसीदास स्वर्ग—नरक को छोड़कर इस संसार में ही राम का गुलाम बन कर जीना चाहते हैं। अन्य कोई स्पृहा उन्हें नहीं है। ऐसे अद्वितीय राम के अतिरिक्त अन्य किसी का नाम लेने से पहले जीभ गल जाय, यही ठीक होगा। तुलसीदास अपनी एकनिष्ठता का संप्रेषण बहुत ही प्रभावी शब्दों में करते हैं—

“गरैगी जीह जो कहौं और को हौं।

जानकी—जीवन! जनम—जनम जग ज्यायो तिहारेहि कौर को हौं।।

तीनि लोक, तिहुँ काल न देखत सुहृद रावरे जोर को हौं।

तुमसों कपट करि कल्प—कल्प कृमि हवैहौं नरक घोरको हौं।।

कहा भयो जो मन मिलि कलिकालहिं कियो भौंतुवा भौर को हौं।

तुलसीदास सीतल नित यहि बल, बड़े ठेकाने ठौर को हौं।।”<sup>85</sup>

अर्थात् यदि मैं कहूँ कि मैं रामजी को छोड़कर किसी दूसरे का हूँ, तो मेरी यह जीभ गल जाय। हे श्रीजानकी—जीवन! मैं तो इस संसार में जन्म—जन्म में आपके ही टुकड़ों से (जूठन से) जी रहा हूँ। तीनों लोकों में तथा तीनों कालों में (पृथ्वी, पाताल और स्वर्ग में एवं भूत, वर्तमान और भविष्यत् में) आपकी बराबरी का सुहृद् (अहैतुक प्रेमी) दूसरा कहीं नहीं दिखायी दिया। यदि मैं आपके साथ कपट करता होऊँ, तो कल्प—कल्पान्तर तक घोर नरक का कीड़ा होऊँ। क्या हुआ, जो कलियुग ने मिलकर मेरे मन को भँवर का भौंतुवा बना दिया? भाव यह कि जैसे भौंतुवा जल में रहता हुआ भी जल के ऊपर ही तैरता रहता है, उसमें डूब नहीं सकता, वैसे ही कलि ने यद्यपि मुझे भव—नदी में डाल दिया है, तथापि मैं आपके प्रताप से इस विषय—प्रवाह में बहूँगा नहीं, ऊपर—ही—ऊपर तैरता रहूँगा। विषयों का मुझपर कोई असर नहीं होगा। तुलसीदास इसी भरोसे परसदा शान्त रहता है कि वह बड़े ठौर—ठिकाने का है (श्रीराम जी के दरबार का गुलाम है। कलियुग—सरीखे टुच्चे उसका क्या कर सकते हैं? इस प्रकार तुलसीदास अपने को केवल अपने आराध्य का गुलाम मानते हैं क्योंकि भगवान् की शरण में जाने पर भक्त चिंता मुक्त हो जाता है तथा इस असत्य संसार का उस पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता।

## आत्मनिक्षेप—

आत्मनिक्षेप आत्मनिक्षेप आत्मसमर्पण का दूसरा नाम है। इसमें भक्त सर्वतोभावेन अपना सर्वस्व भगवच्चरणों में अर्पित कर देता है। जब भक्त केवल भगवान् को ही केन्द्र मान कर समस्त कार्य करे, तब पूर्ण आत्मसमर्पण की स्थिति मानी जाती है। भक्त के समस्त कार्यों का भगवदोन्मुख होना 'आत्मनिक्षेप' का लक्षण है।

“इति मतिरुपकल्पिता वितृष्णा भगवति सात्वतपुङ्गवे विभूमि।

स्वसुखमुपगते क्वचिद्विहर्तुं प्रकृतिमुपेयुषि यद्भवप्रवाहः।।”<sup>86</sup>

अर्थात् अब मृत्यु के समय मैं अपनी यह बुद्धि, जो अनेक प्रकार के साधनों का अनुष्ठान करने से अत्यन्त शुद्ध एवं कामनारहित हो गयी है, यदुवंशशिरोमणी अनन्त भगवान् श्रीकृष्ण के चरणों में समर्पित करता हूँ, जो सदा—सर्वदा अपने आनन्दमय स्वरूप में स्थित रहते हुए ही कभी विहार करने की—लीला करने की इच्छा से प्रकृति को स्वीकार कर लेते हैं, जिससे यह सृष्टिपरम्परा चलती है। इस प्रकार आत्मनिक्षेप में भक्त केवल कृपाकांक्षी होता है। आत्म—समर्पण कर वह निश्चित हो जाता है। उसके कल्याण का सम्पूर्ण दायित्व भगवान् पर होता है। आत्म—समर्पण में भक्त अपने आराध्य के समक्ष अपने हृदय को खोलकर रख देता है। भक्त प्रभुचरण—सानिध्य इसी से प्राप्त करता है। क्योंकि भक्त जानता है कि भगवान् के चरणों में 'शरण' पाए बिना जीव आनन्दोपलब्धि नहीं कर सकता। अतः भक्त आत्मनिक्षेप कर निष्काम हो जाता है। इस प्रकार आत्मनिक्षेपका अर्थ है अपने आप को पूर्णतया भगवान् के अधीन कर देना। किसी भी कार्य को संपादित करने के लिए आत्मनिक्षेप अथवा आत्मसमर्पण अत्यावश्यक है। आत्मनिक्षेप के अभाव में भक्ति की कल्पना तक कठिन होगी। प्रपत्तिमार्ग में आत्मनिक्षेप का विशेष महत्त्व है। “भगवान् का गोप्ता अथवा रक्षक—रूप में वरण कर लेने के पश्चात् भक्त आराध्य के चरणों में मनसा—वाचा—कर्मणा अपने को तथा अपने सर्वस्व को अर्पित कर देता है। उसकी यह दशा 'आत्मनिक्षेप' कहलाती है।”<sup>87</sup> तुलसीदास ने अपने प्रायः समस्त ग्रंथों में राम पर सर्वस्वार्पण करने की तीव्र आकांक्षा व्यक्त की है। 'विनयपत्रिका' तो तुलसी के आत्मनिक्षेप अथवा आत्मसमर्पण का जीता—जागता दस्तावेज ही है। जब भक्त केवल भगवान् को ही केन्द्र मानकर समस्त कार्य करें, तब पूर्ण आत्मसमर्पण की स्थिति मानी जाती है। भगवान् का निष्काम भक्त वही है जो अपने मन को

विषय-वासनाओं से हटाकर प्रभु-चरणों पर केन्द्रित कर दे अर्थात् मन को भगवदार्पित कर दे। “भक्त के समस्त कार्यों का भगवदोन्मुख होना ‘आत्मनिक्षेप’ का लक्षण है।”<sup>88</sup> भगवान् के चरणों में पूरी तरह न्यस्त होने की इच्छा होने पर भक्त सांसारिक सुखों से विमुख हो जाता है। वह केवल भगवत्चरणों में निष्काम प्रेम चाहता है। यही भक्ति की सर्वोच्च स्थिति है। इससे भक्त का जीवन ईश्वरमय हो जाता है। “इस प्रकार जब भक्त गोप्ता के रूप में भगवान् का वरण कर लेता है तब वह मनसा-वाचा-कर्मणा अपने को तथा अपने सर्वस्व को भगवान् के चरणों में न्यस्त कर देता है। उसकी इस दशा को ‘आत्मनिक्षेप’ (आत्मसमर्पण) कहते हैं।”<sup>89</sup> आत्म-समर्पण के द्वारा भक्त अपने आपको प्रभु के हाथों में सौंप देता है, जैसे-

“जौ हम भले बुरे तौ तेरे?

तुम्हें हमारी लाज-बढ़ाई, बिनती सुनि प्रभु मेरे।

सब तजि तुम सरनागत आयौ दृढ़ करि चरन गहरे।

तुम प्रताप-बल बदत न काहूँ, निडर भए घर-चेरे।

और देव सब रंक-भिखारी, त्यागे बहुत अनेरे।

सूरदास प्रभु तुम्हारी कृपा तैं, पाए सुख जु घनेरे।।”<sup>90</sup>

अर्थात् “(भक्त कहता है) जो कुछ हूँ तुम्हारा ही हूँ। मेरी लज्जा अथवा गौरव दोनों के ही कारण तुम्ही हो। मैं सबको त्याग कर तुम्हारी शरण में आया हूँ और (मैंने) दृढ़ता-पूर्वक तुम्हारे चरण पकड़ लिये हैं। तुम्हारे तेजबल से किसी से भयभीत नहीं होता हूँ, घर का दास होने के नाते निडर हो गया हूँ। दूसरे देव रंक और भिखारी हैं, उन्हें अनेकों ने निष्प्रयोजन (झूठा) समझ कर छोड़ दिया है। सूरदास कहते हैं, प्रभु! तुम्हारी ही कृपा से उन्हे बहुत सुख-सम्पत्ति प्राप्त हो गयी है।”<sup>91</sup> इस प्रकार सूरदास लिखते हैं कि भक्त जब आत्मसमर्पण करता है तो भगवान् उसके सारे कार्य स्वयं करते हैं। भक्त तो निश्चिन्त हो जाता है। यही सच्ची भक्ती है। भगवान् के चरणों में पूरी तरह न्यस्त होने की इच्छा होने पर भक्त सांसारिक सुखों से विमुख हो जाता है। वह केवल भगवत्चरणों में निष्काम प्रेम चाहता है। यही भक्ति की सर्वोच्च स्थिति है। ‘विनयपत्रिका’ में भी तुलसी ने इसी भाव को व्यक्त करते हुए भगवत्चरणों में सर्वस्वार्पण की तीव्र आकाक्षा व्यक्त की है।

“नाचत ही निसि—दिवस मरयो ।

तब ही ते न भयो हरि थिर जबतें जिव नाम धरयो ॥

बहु बासना बिबिध कंचुकि भूषन लोभादि भरयो ।

चर अरु अचर गगन जल थल में, कौन न स्वाँग करयो ॥

देव—दनुज, मुनि, नाग, मनुज नहिं जाँचत कोउ उबरयो ।

मेरो दुसह दरिद्र, दोष, दुख काहू तौ न हरयो ॥

थके नयन, पद,पानि, सुमति, बल, संग सकल बिछुरयो ।

अब रघुनाथ सरन आयो जन, भव—भय बिकल डरयो ॥

जेहि गुनतें बस होहु रीझि करि, सो मोहि सब बिसरयो ।

तुलसिदास निज भवन—द्वार प्रभु दीजै रहन परयो ॥”<sup>92</sup>

अर्थात् रात दिन नाचते—नाचते ही मरा! हे हरे! जबसे आपने ‘जीव’ नाम रखा, तबसे यह कभी स्थिर नहीं हुआ। (इस मायारूपी नाच में) नाना प्रकार की वासनारूपी चोलियाँ तथा लोभ (मोह) आदि अनेक गहने पहनकर, जड़—चेतन और जल—स्थल—आकश में ऐसा कौन—सा स्वाँग है जो मैंने नहीं किया! देवता, दैत्य, मुनि, नाग, मनुष्य आदि ऐसा कोई भी नहीं बचा जिसके आगे मैंने हाथ न फैलाया हो? परन्तु इनमें से किसी ने मेरे दारुण दरिद्रय, दोष और दुःखों को दूर नहीं किया। मेरे नेत्र, पैर, हाथ, सुन्दर बुद्धि और बल सभी थक गये हैं। सारा संग मुझसे बिछुड़ गया है। अब तो हे रघुनाथ जी! यह संसार के भय से व्याकुल और भीत दास आपकी शरण आया है। हे नाथ! जिन गुणों पर रीझकर आप प्रसन्न होते हैं, वह सब तो मैं भूल चुका हूँ। अब हे प्रभो! इस तुलसीदास को अपने दरवाजे पर पड़ा रहने दीजिये। इस प्रकार आत्मनिक्षेप में भक्त सर्वतोभावेन अपना सर्वस्व भगवच्चरणों में अर्पित कर देता है। आत्मनिक्षेप आत्मसमर्पण का दूसरा नाम है। तुलसीदास अपने आराध्य से शरण में लेने का आग्रह करते हैं क्योंकि जीव संसार में जन्म लेने के पश्चात् काम, क्रोध, भोग, मोह, निंदा, तृष्णा आदि के चक्कर में पड़ जाता है। ये आसुरी वृत्तियाँ उसे तरह—तरह के नाच नचाती हैं। धीरे—धीरे मनुष्य की सद्वृत्तियों पर ये आसुरी वृत्तियाँ विजय प्राप्त कर लेती हैं। ऐसी दशा में काम, क्रोध, मोह इत्यादि की बातों में ही जीव को आनंद आता है, सत्कार्यों और सद्वृत्तियों की ओर उसका ध्यान नहीं जाता। दुर्वृत्तियों के चक्कर में पड़ा यह जीव

जब चेतता है तब भी अपना उद्धार सरलता से नहीं कर सकता। उस समय ईश्वर की कृपा से ही उसे इनसे छुटकारा मिल सकता है। इसीसे यहाँ तुलसीदास भगवान् राम से प्रार्थना करते हैं कि हे प्रभु! इन दुर्वृत्तियों से छुटकारा दिलाकर आप मेरा उद्धार कर दें। इस प्रकार तुलसीदास भगवान् से अपनी शरण में लेने का निवेदन करते हैं। इसी प्रकार का एक और उदाहरण दृष्टव्य है—

“तुम अपनायो तब जानिहौं, जब मन फिरि परिहै।

जेहि सुभाव विषयनि लग्यो, तेहि सहज नाथ सौं नेह छाड़ि छल करिहै ॥

सुतकी प्रीति, प्रतीति मीत की, नृप ज्यों डर डरिहै।

अपनो सो स्वारथ स्वामिसों, चहुँ बिधि चातक ज्यों एक टेकते नहिं टरिहै ॥

हरषिहै न अति आदरे, निदरे न जरि मरिहै।

हानि—लाभ दुख—सुख सबै समचित हित—अनहित, कलि—कुचालि परिहरिहै ॥

प्रभु—गुन सुनि मन हरषि है, नीर नयननि ढरिहै।

तुलसीदास भयो राम को बिस्वास, प्रेम लखि आनँद उमगि उर भरिहै ॥<sup>93</sup>

अर्थात्, जब मेरा मन (आपकी ओर को) फिर जायगा, तभी मैं समझूँगा कि आपने मुझे अपना लिया। जब यह मन, जिस सहज स्वभाव से ही विषयों में लग रहा है, उसी प्रकार कपट छोड़कर आपके साथ प्रेम करेगा (जब तक ऐसा नहीं होता तब तक मैं कैसे समझूँ कि मुझको आपने अपना दास मान लिया) जैसे मेरा वह मन पुत्र से प्रेम करता है, मित्र पर विश्वास करता है और राज-भय से डरता है, वैसे ही जब वह अपना सब स्वार्थ केवल स्वामी से ही रखेगा और चारों ओर से चातक की तरह अपनी अनन्य टेक से नहीं टलेगा (एक प्रभु पर ही निर्भर करेगा)। अत्यन्त आदर पानेपर जब उसे हर्ष न होगा, निरादर होने पर वह जलकर न मरेगा और हानि—लाभ, सुख—दुख, भलाई—बुराई सबमें चित्त को सम रखेगा और कलिकाल की कुचालों को (सर्वथा) छोड़ देगा (तभी मानूँगा कि नाथ मुझे अपना रहे हैं)। और जब मेरा मन प्रभु का गुणानुवाद सुनते ही हर्ष में विह्वल हो जायगा, मेरे नेत्रों से प्रेम के आँसुओं की धारा बहने लगेगी तभी तुलसीदास को यह विश्वास होगा कि वह श्रीरामजी का हो गया। तब उस (अनन्य) प्रेम को देखकर हृदय में आनन्द उमड़कर भर जायगा। (हे प्रभो ! शीघ्र ही अपनाकर मेरी ऐसी दशा कर दीजिये)।” इस प्रकार तुलसीदास लिखते हैं कि जब मनुष्य को ईश्वर से अनन्य प्रेम हो जाता है तो वह

संसार से विरक्त हो जाता है। सांसारिक प्रलोभन उसे मिथ्या लगते हैं। मनुष्य सांसारिक विषय—वासनाओं को छोड़कर केवल ईश्वर में आसक्त हो जाता है। इस प्रकार ईश्वर में आसक्ति तथा संसार से विरक्ति ही पूर्ण आत्मसमर्पण है। इसलिए तुलसीदास अपने प्रभु से प्रार्थना करते हैं कि हे प्रभु! मुझे अपनाकर मेरी ऐसी दशा कर दीजिये कि मैं भी केवल आपसे प्रेम करूँ और संसार से विरक्त हो जाऊँ। इस प्रकार भक्त के समस्त कार्यों का भगवदोन्मुख होना 'आत्मनिक्षेप' का लक्षण है। जब भक्त केवल भगवान् को ही केन्द्र मान कर समस्त कार्य करे, तब पूर्ण आत्मसमर्पण की स्थिति मानी जाती है—

**“जानकी – जीवन की बलि जैहों।**

**चित कहै रामसीय—पद परिहरि अब न कहूँ चलि जैहों।।**

**उपजी उर प्रतीति सपनेहुँ सुख, प्रभु—पद—बिमुख न पैहों।**

**मन समेत या तनके बासिन्ह, इहै सिखवन दैहों।।**

**श्रवनिन और कथा नहिं सुनिहों, रसना और न गैहों।**

**रोकिहों नयन बिलोकत औरहिं, सीस ईस ही नैहों।।**

**नातो—नेह नाथसों करि सब नातो—नेह बहैहों।**

**यह छर भार ताहि तुलसी जग जाको दास कहैहों।।”<sup>94</sup>**

अर्थात् मैं तो श्रीजानकी—जीवन रघुनाथ जी पर अपने को न्योछावर कर दूँगा। मेरा मन यही कहता है कि अब मैं श्रीसीता—राम जी के चरणों को छोड़कर दूसरी जगह कहीं भी नहीं जाऊँगा। मेरे हृदय में ऐसा विश्वास उत्पन्न हो गया है कि अपने स्वामी श्रीराम जी के चरणों से विमुख होकर मैं स्वप्न में भी कहीं सुख नहीं पा सकूँगा। इससे मैं मन को तथा इस शरीर में रहने वाले (इन्द्रियादि) सभी को यही उपेदेश दूँगा। कानों से दूसरी बात नहीं सुनूँगा, जीभ से दूसरे की चर्चा नहीं करूँगा, नेत्रों को दूसरी ओर ताकने से रोक लूँगा और यह मस्तक केवल भगवान् को ही झुकाऊँगा। अब प्रभु के साथ नाता और प्रेम करके दूसरे सबसे नाता और प्रेम तोड़ दूँगा। इस संसार में मैं तुलसीदास जिसका दास कहाऊँगा फिर अपने सारे कर्मों का बोझा भी उसी स्वामी पर रहेगा। इस प्रकार जब भक्त राम पर ईमानदारी के साथ अपना सर्वस्व न्योछावर कर देता है, तब उसे रामचरण के अतिरिक्त अन्यत्र नहीं भटकना पड़ता। हृदय रामचरण— रति करने लगता है तथा वह इन्द्रियों को भी

अपने राज-पथ पर चलाने की चेष्टा करता है। श्रवण केवल राम-कथा ही सुनें, जिह्वा केवल राम के चरित और चरित्र का ही गान करे, नेत्र केवल रामरूपदर्शन ही करें तथा मस्तक केवल राम-चरणों में ही झुके-यह भक्त की अकांक्षा है। यही आराध्य के चरणों में पूर्ण आत्मनिक्षेप है। तुलसीदास ने स्थान-स्थान पर समग्र सांसारिक प्रेम-संबंधों को राम पर केन्द्रित करने की स्पृहा व्यक्त की है-

“यह बिनती रघुबीर गुसाईं ।

और आस-बिस्वास-भरोसा, हरो जीव जड़ताई ॥

चहौं न सुगति, सुमति, संपति कछु, रिधि-सिधि बिपुल बड़ाई ।

हेतु-रहित अनुराग राम-पद बढ़ै अनुदिन अधिकाई ॥

कूटिल करम लै जाहिं मोहि जहँ जहँ अपनी बरिआई ।

तहँ तहँ जनि छिन छोह छाँड़ियो, कमठ-अडंकी नाई ॥

या जगमें जहँ लागि या तनुकी प्रीति प्रतीति सगाई ।

ते सब तुलसीदास प्रभु ही सों होहिं सिमिति इस ठाई ॥”<sup>95</sup>

अर्थात् हे श्रीरघुनाथ जी! हे नाथ! मेरी यही विनती है कि इस जीव को दूसरे साधन, देवता या कर्मों पर जो आशा, विश्वास और भरोसा है, उस मूर्खता को आप हर लीजिये। हे राम! मैं शुभगति, सदबुद्धि, धन-सम्पत्ति, ऋद्धि-सिद्धि और बड़ी भारी बड़ाई आदि कुछ भी नहीं चाहता। बस, मेरा तो आपके चरण-कमलों में दिनोंदिन अधिक-से-अधिक अनन्य और विशुद्ध प्रेम बढ़ता रहे, यही चाहता हूँ। मुझे अपने बुरे कर्म जबरदस्ती जिस-जिस योनि में ले जायँ, उस-उस योनि में ही हे नाथ! जैसे कछुआ अपने अंडों को नहीं छोड़ता, वैसे ही आप पलभर के लिये भी अपनी कृपा न छोड़ना। हे नाथ! इस संसार में जहाँ तक इस शरीर का (स्त्री-पुत्र-परिवारादि से) प्रेम, विश्वास और सम्बन्ध है, सो सब एक ही स्थान पर सिमटकर केवल आपसे ही हो जाय। इस प्रकार तुलसीदास अपने आराध्य से प्रार्थना करते हैं कि हे प्रभु! मुझे केवल आपका ही भरोसा है। आप ही मुझे इस भवसागर से पार लगाना, क्योंकि केवल और केवल आप ही समर्थ हैं इस प्रकार तुलसीदास राम-नाम के प्रति अपना अविचल विश्वास व्यक्त करते हैं। अपने आराध्य से जीवन की जड़ता और दूसरों का आशा, भरोसा तथा विश्वास दूर कर देने का आग्रह करते हैं क्योंकि यह जीव तो जड़ है। हे नाथ! आप इस जीव की



खबर लेते रहना। इस संसार में जहाँ तक इस शरीर का प्रेम, विश्वास और संबंध है, सो सब एक ही स्थान पर सिमट कर केवल आप से ही हो जाये। अर्थात् इन्द्रियों का जिस-जिस में अनुराग है वहाँ से हटाकर उस सम्पूर्ण अनुराग को हरि-चरणों में लगाना ही सच्ची भक्ति है जो मुक्ति से भी बढ़कर है।

### कार्पण्य

कार्पण्य का अर्थ है भगवान् के सम्मुख दीनता का भाव रखना। भक्त अपनी दीनता दिखलाकर ही भगवान् की शरण में जाता है। इसके अन्तर्गत ही आत्म-निवेदन, भक्त की अकिंचनता एवं क्षुद्रता और भगवान् की महानता आदि के वर्णन आते हैं। 'कार्पण्यम्' अर्थात् परमदीन होकर आत्मनिवेदन करना। इस महान् स्थिति में पहुँच कर भक्त सभी प्रकार के तर्कों, शंकाओं, द्वन्द्वों, अहंकार आदि से ऊँचा उठकर भगवान् के समक्ष शरणागति की याचना करता है। 'अतिदीनता' अथवा 'कार्पण्य' दास्य भक्ति की आत्मा है। यह प्रपत्ति की अंतिम विद्या है। भक्त को 'अहम्' की ज्वाला में जलने से बचा कर अतिनम्रता के शीतल जल में स्नान कराने में यह बहुत सहयोग देती है। मनुष्य यदि अपने आराध्य अथवा परमात्मा के समक्ष नत नहीं होगा तो और किसके समक्ष होगा? "अत्यंत दीनता को 'कार्पण्य' कहते हैं। भक्त, विशेषकर तुलसी-जैसा दासभक्त, भगवान् को परम महान् और अपने को परमदीन मानकर उसके प्रति आत्मनिवेदन करता है।"<sup>96</sup> यों तो तुलसी ने अपनी सभी कृतियों में अपने तथा अपने वर्ण्य भक्तों के कार्पण्य का विशद निरूपण किया है किन्तु उनकी 'विनयपत्रिका' तो उनके कार्पण्य का ही निदर्शन है। "काव्य की जो रमणीयता, भक्तिरस का जो प्रवाह, कला की जो मर्मस्पर्शिता, तुलसी की कार्पण्यनिरूपक पंक्तियों में है वह इस महामहिम भक्त कवि की उत्तमोत्तमता का ज्वलंत प्रमाण है। इस दैन्य निवेदन में कहीं तो तुलसी ने भक्त की हीनता, असमर्थता, पाप आदि पर ही विशेष बल दिया है और कहीं भक्त विषयक दीनता की तुलना में भगवान् की महिमा का भी समान रूप से अतिरंजित ख्यापन किया है।"<sup>97</sup> इस प्रकार भक्त का दैन्य कार्पण्य है। वह भगवान् को परम महान् एवं अपने को अत्यन्त हीन मानकर उनकी शरण पाने के लिए आत्मनिवेदन करता है। भागवत की स्तुतियों में भक्तों की कार्पण्य भावना का विशद् प्रकाशन हुआ है—

“तस्मादहं विगतविकलव ईश्वरस्य सर्वात्मना महि ग्रणामि यथामनीषम् ।

नीचोऽजया गुणविसर्गमनुप्रविष्टः पूयेत येन हि पुमाननुवर्णितेन ।।”<sup>98</sup>

अर्थात् इसलिये सर्वथा अयोग्य और अनधिकारी होने पर भी मैं बिना किसी शंका के अपनी बुद्धि के अनुसार सब प्रकार से भगवान् की महिमा का वर्णन कर रहा हूँ। इस महिमा के गान का ही ऐसा प्रभाव है कि अविद्यावश संसारचक्र में पड़ा हुआ जीव तत्काल पवित्र हो जाता है। इसी प्रकार एक और कार्पण्य का उदाहरण निम्न है—

“विदितमनन्त समस्तं तव जगदात्मनो जनैरिहाचरितम् ।

विज्ञाप्यं परमगुरोः कियदिव सवितुरिव खद्यौतैः ।।”<sup>99</sup>

अर्थात् “हे अनन्त! आप सम्पूर्ण जगत् के आत्मा हैं। अतएव संसार में प्राणी जो कुछ करते हैं, वह सब आप जानते ही रहते हैं। इसलिये जैसे जुगनू सूर्य को प्रकाशित नहीं कर सकता, वैसे ही परमगुरु आपसे मैं क्या निवेदन करूँ।” इस प्रकार स्पष्ट है कि अतिदीनता आराधक को आराध्य से जोड़ने का सबसे सुगम साधनापथ है। राम के दीनबंधु रूप की स्मृति करके भक्त खुश हो जाता है। भक्त अपने प्रभु से कहता है कि आप तो सर्वव्यापक हैं, सम्पूर्ण जगत् का पालन करने वाले हैं अतः इस संसार में जो कुछ हो रहा है वह सब आपको ज्ञात है। आप मेरी बुराईयों को भी जानते हैं, मैं पापी हूँ वो भी जानते हैं। लेकिन जब मैं आपके सामने अपनी दुःखद स्थिति का वर्णन करता हूँ तथा अन्तर्मन से अपने आप को आपके प्रति समर्पित कर देता हूँ तो आप सहर्ष आकर अपना भक्तवत्सल नाम सफल करते हैं। आप तो सूर्य के समान असीम हैं और मैं जुगनू के समान निर्बल इसलिए भला मैं आपसे क्या निवेदन करूँ अर्थात् ईश्वर सर्वव्यापक, समर्थ तथा असीम हैं वो घट-घट की जानने वाले हैं उनसे भला क्या छिपा है अतः ईश्वर को कहने की आवश्यकता नहीं है। जीव ईश्वर की महिमा का गान करने से अर्थात् भक्ति करने से अविद्यावश (अज्ञानवश) संसार चक्र में पड़ा हुआ तत्काल पवित्र हो जाता है अर्थात् उसका जीवन धन्य हो जाता है। वह ईश्वरमय हो जाता है। एक स्थल पर कबीर ने भक्त की भगवान् के प्रति कैसी सुन्दर आत्मसमर्पण की भावना व्यक्त की है—

“मैं गुलांम मोहि बेचि गुसांई,

तनमन धन मेरा रांमजी कै ताई ।।”<sup>100</sup>

कबीर ने अपने आप को अपने आराध्य का गुलाम माना है अर्थात् मैं भगवान् का दास हूँ। मेरे ईश्वर मेरे साथ जो चाहे करे क्योंकि मैंने अपना तन, मन, धन सब कुछ अपने भगवान् को अर्पण कर दिया है। वे स्वामी है मैं उनका सेवक हूँ। इस प्रकार कबीर ने राम को अपने जीवन का आधार माना है। भक्त प्रभु के आगे अपनी निर्बलता खोल कर रख देता है, प्रभु की सर्वशक्तिमत्ता के सामने अपने कार्पण्य एवं दैन्य का प्रकाश करता है। आत्मनिवेदन का यह आवश्यक अंग है, सूरदास भी अपने आराध्य से यही कहते हैं कि—

“जौ पै तुमहीं बिरद बिसारौ ।

तौ कहौ कहाँ जाइ करुनामय, कृपिन करम कौ मारौ ।

दीन—दयाल, पतित—पावन, जस बेद बखानत चारौ ।

सुनियत कथा पुराननि, गनिका, ब्याध, अजामिल तारौ ।

राग—द्वेष, बिधि—अबिधि, असुचि—सुचि, जिहिँ प्रभु जहाँ सँभारौ ।

कियौ न कबहुँ बिलंब कृपानिधि, सादर सोच निवारौ ।

अगनित गुण हरि नाम तिहारै, अजौ अपुनपौ धारौ ।

सूरदास—स्वामी, यह जन अब करत स्रम हारौ ।”<sup>101</sup>

अर्थात् “हे प्रभु! यदि आपने ही अपने सुयश को विस्मृत कर दिया है, तब बतलाइये मैं तुच्छ कर्मों का मारा कहाँ जाऊँ? आप दीन—दयाल, पतित—पावन हैं, आपके यश का वर्णन चारों वेद करते हैं। पुराणों में यह कथा सुनी है कि आपने गणिका, व्याध तथा अजामिल का उद्धार कर दिया। राग से, द्वेष से, विधिपूर्वक, विधिरहित होकर पवित्र अथवा अपवित्र, जिसने जहाँ जिस प्रकार आपका स्मरण किया, आपने उसका उद्धार किया। हे कृपा के सागर! आपने (भक्तों के उद्धार में) कभी भी देरी नहीं की, (वरन्) सम्मानपूर्वक (भक्तों) के कष्ट को दूर कर दिया। हे प्रभु! आपके अनेकों नाम तथा अनेकों गुण हैं। आज भी अपने प्रण को धारण कर लें। सूरदास कहते हैं कि हे स्वामी! आपका यह भक्त तो परिश्रम करते—करते थक गया है।”<sup>102</sup> इस प्रकार सूरदास अपने प्रभु से प्रार्थना करते हैं कि हे प्रभु आप तो पतित—पावन हैं जो भी निश्छल भाव से आपकी शरण में आता है आप उसका सहर्ष उद्धार कर देते हैं। आप भक्तों के कष्ट हरने में तनिक भी विलम्ब नहीं करते। पुराणों में अनेक

उदाहरण भरे हुए हैं कि आपने गणिका, व्याध तथा अजामिल का पलक—झपकते ही उद्धार कर दिया। आप भक्तवत्सल हैं। आज भी अपने प्रण को धारण करके इस सूरदास का भी उद्धार करें। मेरी आपसे बार—बार यही प्रार्थना है कि प्रभु मेरा भी उद्धार शीघ्र करें। जब व्यक्ति सांसारिक कष्टों से मुक्त होना चाहता है तो अपने आराध्य की शरण में जाता है। इस प्रकार सब कुछ त्यागकर प्रभु की शरण में जाना ही कार्पण्य भाव है। इस अवस्था में भक्त भगवान् की शरण में जाने की लालसा रखता है। अहंकार—शून्यता भगवत्कृपा से ही प्राप्त की जा सकती है। भक्त भगवान् का अनुगृह प्राप्त करने के हेतु व्याकुलता तथा व्यग्रता से उनकी उपासना करता है। भगवान् उसके दोषों को दूर करके उसे शरण में लेंगे यह अटूट विश्वास भक्त के हृदय में रहता है। इस प्रकार सूरदास भगवान् की शरण में जाने को व्यग्र हैं। उन्हें भगवान् की सामर्थ्य में पूर्ण विश्वास है। भगवान् के अतिरिक्त वे किसी अन्य के कृतज्ञ नहीं होना चाहते। इसी प्रकार राम के दीनबंधु रूप की स्मृति करते हुए तुलसी लिखते हैं —

“ऐसे राम—दीन हितकारी।

अतिकोमल करुनानिधान बिनु कारन पर—उपकारी।।  
साधन—हीन दीन निज अघ—बस, सिला भई मुनि—नारी।  
गृहतेँ गवनि परसि पद पावन घोर सापतेँ तारी।।  
हिंसारत निषाद तामस बपु, पसु—समान बनचारी।  
भेंटयो हृदय लगाइ प्रेमबस, नहिं कुल जाति बिचारी।।  
जद्यपि द्रोह कियो सुरपति—सुत, कहि न जाय अति भारी।  
सकल लोक अवलोकि सोकहत, सरन गये भय टारी।।  
बिहँग जोनि आमिष अहार पर, गीध कौन ब्रतधारी।  
जनक—समान क्रिया ताकी निज कर सब भाँति सँवारी।  
अधम जाति सबरी जोषित जड़, लोक—बेद तेँ न्यारी।  
जानि प्रीति, दै दरस कृपानिधि, सोउ रघुनाथ उधारी।।  
कपि सुग्रीव बंधु—भय—ब्याकुल आयो सरन पुकारी।  
सहि न सके दारुन दुख जनके, हत्यो बालि, सहि गारी।।  
रिपुको अनुज बिभीषन निशिचर, कौन भजन अधिकारी।

सरन गये आगे हवै लीन्हों भेंटयो भुजा पसारी ।।  
 असुभ होइ जिन्ह के सुमिरे ते बानर रीछ बिकारी ।  
 बेद—बिदित पावन किये ते सब, महिमा नाथ! तुम्हारी ।।  
 कहँ लागि कहौं दीन अगनित जिन्ह की तुम बिपति निवारी ।  
 कलिमल—ग्रसित दास तुलसी पर, काहे कृपा बिसारी? ।।<sup>103</sup>

अर्थात् दीनों का ऐसा हित करने वाले श्री रामचन्द्र जी हैं, वे अति कोमल, करुणा के भण्डार और बिना ही कारण दूसरों का उपकार करने वाले हैं। साधनों से रहित, दीन, गौतम ऋषि की स्त्री अहल्या, अपने पापों के कारण शिला हो गयी थी। उसे आपने घर से चलकर, अपने पवित्र चरण से छूकर, घोर शाप से छुड़ा दिया। हिंसा में रत गुह निषाद जिसका तामसी शरीर था, और जो पशु की तरह वन में फिरता रहता था, उसे आपने वंश और जातिका विचार किये बिना ही, प्रेम के वश होकर हृदय से लगा लिया। यद्यपि इन्द्र के पुत्र जयन्त ने (काकरूप से श्रीसीता जी के चरण में चोंच मारकर) इतना भारी अपराध किया था, कि कुछ कहा नहीं जा सकता तथापि जब वह (बाण के मारे घबराकर रक्षा के लिये) सब लोकों को देख फिरा और फिर शोक से व्याकुल होकर शरण में आया, तब उसका सारा भय दूर कर दिया। जटायु गीध पक्षी की योनि का था, सदा मांस खाया करता था। उसने ऐसा कौन सा व्रत धारण किया था कि जिसकी आपने अपने हाथ से, पिता के समान अन्त्येष्टि—क्रिया कर सब बातें सुधार दीं, अर्थात् मुक्ति प्रदान कर दी। शबरी नीच जाति की मूर्खा स्त्री थी। जो लोक और वेद दोनों से ही बाहर थी। परन्तु उसका सच्चा प्रेम समझकर कृपालु रघुनाथ जी ने उसे भी कृपापूर्वक दर्शन देकर उद्धार कर दिया। सुग्रीव बन्दर अपने भाई (बालि)—के भय से व्याकुल होकर जब पुकारता हुआ आपकी शरण में आया, तब आप अपने उस दास का दारुण दुःख नहीं सह सके और गालियाँ सहकर भी बालिका वध कर डाला। विभीषण, शत्रु (रावण)—का भाई था और जाति का राक्षस था! वह किस भजन का अधिकारी था? किन्तु जब वह आपकी शरण में आया तब आपने उसे आगे बढ़कर लिया और भुजा पसारकर हृदय से लगाया। बन्दर और रीछ ऐसे अधर्मी हैं कि उनका नामतक लेने से अमंगल होता है, किन्तु हे नाथ! उनको भी आपने पवित्र बना दिया। वेद इस बात के साक्षी

हैं। यह सब आपकी महिमा है। मैं कहाँ तक कहूँ ऐसे असंख्य दीन हैं, जिनकी विपत्तियाँ आपने दूर कर दी हैं, किन्तु न जाने इस तुलसीदास पर, जो कलियुग के पापों से जकड़ा हुआ है, आप कृपा करना क्यों भूल गये।” “इस प्रकार कार्पण्य में भक्त अपनी दीनता तथा अपने आराध्य की महानता का वर्णन करता है। यहाँ पर तुलसीदास भगवान् राम से प्रार्थना करते हैं कि हे प्रभु! आप बिना ही कारण दूसरों का उपकार करने वाले हैं। आप भक्तवत्सल हैं। दीनों का हित करने वाले हैं। आपने किस-किस का उद्धार नहीं किया— गौतम ऋषि की स्त्री अहल्या का, गुह निषाद का, इन्द्र के पुत्र जयन्त का, जटायु गीध का, शबरी का, सुग्रीव बन्दर का, विभिषण का और न जाने कितने उदाहरण वेदों में भरे पड़े हैं जिनका आपने शरण में आने पर तुरन्त उद्धार कर दिया। अतः आप से इस भक्त तुलसीदास का उद्धार करते क्यों नहीं बन रहा। अर्थात् तुलसीदास को भी सांसारिक कष्टों ने घेर रखा है। वह इन कष्टों से मुक्त होने के लिए आपकी शरण में आया है अतः हे प्रभु आप मेरा भी उद्धार करें। मुझे भी इस भवसागर से पार करें। इस प्रकार कार्पण्य में भक्त अपने आराध्य से नम्रता पूर्वक निवेदन करता है कि हे प्रभु मुझे अपने चरणों में शरण दें। इसीलिए तुलसीदास ने भगवान् राम से दीन-दयालु का सम्बन्ध जोड़ा है। यह सम्बन्ध आराधक और आराध्य की अन्योन्यता की सूचना देता है। तुलसी का यह सम्बन्ध निर्धारण दास्य भक्ति के सर्वथा अनुकूल है—

“तू दयालु, दीन हौं, तू दानि, हौं भिखारी।  
 हौं प्रसिद्ध पातकी, तू पाप-पुंज-हारी।।  
 नाथ तू अनाथ को, अनाथ कौन मोसो।  
 मो समान आरत नहिं, आरतिहर तोसो।।  
 ब्रह्म तू हौं जीव, तू है ठाकुर, हौं चरो।  
 तात-मात, गुरु-सखा, तू सब बिधि हितु मेरो।।  
 तोहिं मोहिं नाते अनेक, मानियै जो भावै।  
 ज्यों त्यों तुलसी कृपालु! चरन-सरन पावै।।”<sup>104</sup>

अर्थात् हे नाथ! तू दीनों पर दया करने वाला है, तो मैं दीन हूँ। तू अतुल दानी है, तो मैं भिखमंगा हूँ। मैं प्रसिद्ध पापी हूँ, तो तू पाप-पुंजों का नाश करने वाला है। तू अनाथों का नाथ है, तो मुझ-जैसा अनाथ भी और कौन है? मेरे समान कोई दुःखी

नहीं है और तेरे समान कोई दुःखों को हरने वाला नहीं है। तू ब्रह्म है, मैं जीव हूँ। तू स्वामी है, मैं सेवक हूँ। अधिक क्या, मेरा तो माता, पिता, गुरु, मित्र और सब प्रकार से हितकारी तू ही है। मेरे—तेरे अनेक नाते हैं, नाता तुझे जो अच्छा लगे, वही मान ले। परन्तु बात यह है कि हे कृपालु! किसी भी तरह यह तुलसीदास तेरे चरणों की शरण पा जावे। इस प्रकार तुलसीदास अपने आराध्य श्रीराम से अपनी दीनता का वर्णन करते हुए कहते हैं कि हे प्रभु मैं दीन हूँ। कुछ भी करने की मेरे में सामर्थ्य नहीं है। मैं भिखारी की तरह हर समय आप से कुछ न कुछ माँगता ही रहता हूँ। मैं तो केवल पापी ही नहीं सभी पापियों में अग्रगण्य हूँ। लेकिन आपकी सामर्थ्य में मुझे पूर्ण विश्वास है। आप दीनों पर दया करने में आगे रहते हैं। आप अतुल दानी हैं, भक्त को बिना माँगे सब कुछ दे देते हैं। आप पाप—पुंजों को पलक—झपकते ही नष्ट कर देते हैं। आप सभी अनाथों के नाथ हैं अर्थात् सहारा है। जिसका इस संसार में कोई सहारा नहीं उसका ईश्वर अपने आप सहारा बन जाते हैं। भगवान् स्वयं सारथी बनकर उसके रथ को हाँकते हैं। आप दुःखों का हरण करने वाले हैं। तू ब्रह्म है, मैं जीव हूँ। तू स्वामी है, मैं सेवक हूँ। तुलसीदास लिखते हैं कि ईश्वर ब्रह्म है अर्थात् विशिष्ट है, मनुष्य जीव जो माया के अधीन है अर्थात् तुच्छ है। जीव भक्ति के माध्यम से ईश्वर की शरण में आकर ही इस संसार से तर सकता है। इस प्रकार तुलसीदास ने ब्रह्म को विशिष्ट तथा जीव को तुच्छ माना है। वे ब्रह्म तथा जीव को अलग—अलग मानते हैं। उन्होंने राम नाम की महत्ता ओर सर्वप्रधानता को ही प्रमुख माना है। जीव प्रभु की शरण पाकर ही धन्य हो सकता है। उन्होंने अपने सारे सम्बन्धों को भगवान् श्रीराम में ही देखा है। वे अपने आपको पापी तथा अनाथ मानते हैं लेकिन भगवान् की सामर्थ्य में पूर्ण विश्वास है तभी तो भगवान् को अपना सब प्रकार से हितकारी समझते हैं। निःसंदेह तुलसी की भक्ति अत्यन्त उच्च कोटि की है क्योंकि जहाँ पूर्णतया समर्पण होता है, वहीं भक्ति का महल खड़ा होता है। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि तुलसी दास्य—भक्ति—सीमांत होने के कारण अतिदीनता के सीमांत भी हैं। उनके राम दीनहितकारी हैं। अतः उनका दैन्य सर्वथा सार्थक है। अंततोगत्वा इसमें कोई सन्देह नहीं रह जाता कि 'विनयपत्रिका' तुलसी के कार्पण्य अथवा दीनतापूर्ण कथनों का महान् संग्रह है। दास्य भक्ति के सीमांत तुलसी के द्वारा दीनबंधु राम के चरणों में अपना सर्वस्व

समर्पण कर दिया गया। तुलसीदास अहम् भावना से मुक्त एक महान् भक्त थे। अपने सर्वस्व के साथ अहं भाव को भी उन्होंने भगवत्चरणों में न्यस्त कर दिया था—

“ तऊ न मेरे अघ—अवगुन गनिहैं ।

जौ जमराज काज सब परिहरि, इहै ख्याल उर अनिहैं ॥

चलिहैं छूटि पुंज पापिन के, असमंजस जिय जनि हैं ।

देखि खलल अधिकार प्रभूसों (मेरी) भूरि भलाई भनिहैं ॥

हँसि करिहैं परतीति भगत की भगत—सिरोमनि भनिहैं ।

ज्यों त्यों तुलसीदास कोसलपति अपनायेहि पर बनिहैं ॥”<sup>105</sup>

अर्थात् हे श्रीराम जी! यदि यमराज सब कामकाज छोड़कर केवल मेरे ही पापों और दोषों के हिसाब—किताब का खयाल करने लगेंगे, तब भी उनको गिन नहीं सकेंगे (क्योंकि मेरे पापों की कोई सीमा नहीं है)। (और जबवह मेरे हिसाब में लग जायँगे तब उन्हें इधर उलझे हुए समझकर) पापियों के दल—के—दल छूटकर भाग जायँगे। इससे उनका मन में बड़ी चिन्ता होगी। (मेरे कारण से) अपने अधिकार में बाधा पहुँचते देखकर (भगवान् के दरबार में अपने को निर्दोष साबित करने के लिये) वह आपके सामने मेरी बहुत बड़ाई कर देंगे (कहेंगे कि तुलसीदास आपका भक्त है, इसने कोई पाप नहीं किया, आपके भजन के प्रताप से इसने दूसरे पापियों को भी पाप के बन्धन से छुड़ा दिया)। तब आप हँसकर अपने भक्त यमराज का विश्वास कर लेंगे और मुझे भक्तों में शिरोमणि मान लेंगे। बात यह है कि हे कोसलेश! जैसे—तैसे आपको मुझे अपना ही पड़ेगा।” इस प्रकार तुलसीदास अपने आप को परमदीन, पापियों में अग्रगण्य तथा अपने आराध्य श्रीराम को परम महान् मानते हैं। तुलसीदास अपने प्रभु से कहते हैं कि समग्र संसार के पापों का लेखा—जोखा रखने वाले यमराज भी यदि सब काम छोड़कर केवल तुलसी के ‘पापों’ का हिसाब—किताब करना चाहें तो भी नहीं कर सकते। उधर यमराज को तुलसी में व्यस्त देखकर शेष पापियों को मनचाहा अवसर मिल जाएगा। वे नरक से भाग लेंगे। इस स्थिति में यमराज अपने कार्य में बाधा पड़ती देखकर चाहेंगे कि तुलसी उनके यहाँ अर्थात् ‘नरक’ से टले। वे राम से कहेंगे— “प्रभो, यह तुलसी तो बहुत संत—भक्त आदमी है। इसे आप अपने पास रखिये।” यमराज की सिफारिश को राम हँसते हुए (सर्वज्ञाता, त्रिलोकाधिपति, राम कारण तो जानते ही हैं) स्वीकार कर लेंगे। इस



प्रकार येन—केन—प्रकरेण तुलसी को श्रीराम के चरणों में स्थान मिल ही जाएगा। इस प्रकार अपनी दीनता एवं असमर्थता का वर्णन करना तुलसी की प्रशस्त विशेषता है—

“जौ पै जिय धरिहौ अवगुन जनके।

तो क्यों कटत सुकृत—नखते मो पै, बिपुल बृंद अघ—बनके ॥

कहिहै कौन कलुष मेरे कृत, करम बचन अरु मनके।

हारहिं अमित सेष सारद श्रुति, गिनत एक—एक छनके ॥

जो चित चढ़ै नाम—महिमा निज, गुनगन पावन पनके।

तो तुलसिहिं तारिहौ बिप्र ज्यों दसन तोरि जमगनके ॥”<sup>106</sup>

अर्थात् हे नाथ! यदि आप इस दास के दोषों पर ध्यान देंगे, तब तो पुण्यरूपी नख से पापरूपी बड़े—बड़े वनों के समूह मुझसे कैसे कटेंगे? (मेरे जरा—से पुण्य से भारी—भारी पाप कैसे दूर होंगे?) मन, वचन और शरीर से किये हुए मेरे पापों का वर्णन भी कौन कर सकता है? एक—एक क्षण के पापों का हिसाब जोड़ने में अनेक शेष, सरस्वती और वेद हार जायेंगे। (मेरे पुण्यों के भरोसे तो पापों से छूटकर उद्धार होना असम्भव है) यदि आपके मन में अपने नाम की महिमा और पतितों को पावन करने वाले अपने गुणों का स्मरण आ जाय तो आप इस तुलसीदास को यमदूतों के दाँत तोड़कर संसार—सागर से अवश्य वैसे ही तार देंगे, जैसे अजामिल ब्राह्मण को तार दिया था।” इस प्रकार तुलसीदास ने अपने आराध्य के सामने अपनी दीनता तथा असमर्थता को खोलकर रख दिया तथा कहते हैं कि हे प्रभु मुझे तो केवल आपकी कृपा पर ही विश्वास है। मेरे मैं इतनी सामर्थ्य नहीं है कि मैं इस भवसागर से पार हो जाऊँ अर्थात् सांसारिक कष्टों से मुक्त हो जाऊँ। लेकिन आप पतितपावन हैं। आपकी कृपा से पलक—झपकते ही सांसारिक बन्धन कट जाते हैं तथा जीव मुक्त हो जाता है। अतः तुलसीदास को प्रभु की सामर्थ्य में पूर्ण विश्वास है कि जैसे आपने अजामिल ब्राह्मण को तारा था वैसे ही मुझे भी इस संसार—सागर से अवश्य तारेगें। इस प्रकार भगवान् राम की दीनबंधुता पर प्रकाश डालते हुए अहंभाव का संपूर्णतः विगलन करके तुलसीदास ने अपनी खूब निन्दा की है। लेकिन अपनी अतिशयोक्तिपूर्ण निन्दा करते हुए वस्तुतः वे सांसारिक जन को आशा की ज्योति दिखला रहे हैं— जब मेरे जैसे मलिन मन वाले एवं घोर पापी को राम ने

कृपापूर्वक शरणागति प्रदान की है तब साधारण पापियों की तो बात ही क्या है! उन्हें तो राम सरलतापूर्वक अपना लेंगे। निराशा के गहन सागर में डूबती-उतराती जनता को आशा सशक्त संबल प्रदान करने के लिए ही तुलसीदास ने ऐसे कथन किए हैं तथा व्याध, अजामिल, गणिका आदि के उदाहरण दिए हैं। तुलसीदास के ऐसे प्राणपुलककारी कथन हृदय से निराशाजन्य अधंकार को बलपूर्वक निकालकर उसमें आशाजन्य प्रकाश भर देते हैं—

“तुम सम दीनबंधु, न दीन कोउ मो सम, सुनहु नृपति रघुराई।  
 मोसम कुटिल-मौलिमनि नहिं जग, तुमसम हरि! न हरन कुटिलाई।।  
 हौं मन-बचन-कर्म पातक-रत, तुम कृपालु पतितन-गतिदाई।  
 हौं अनाथ, प्रभु! तुम अनाथ-हित, चित यहि सुरति कबहुँ नहिं जाई।।  
 हौं आरत, आरति-नासक तुम, कीरति निगम पुराननि गाई।  
 हौं सभीत तुम हरन सकल भय, कारन कवन कृपा बिसराई।।  
 तुम सुखधाम राम श्रम-भंजन, हौं अति दुखित त्रिबिध श्रम पाई।  
 यह जिय जानि दास तुलसी कहँ राखहु सरन समुझि प्रभुताई।।”<sup>107</sup>

अर्थात् हे महाराज रामचन्द्र जी! आपके समान तो कोई दीनों का कल्याण करने वाला बन्धु नहीं है और मेरे समान कोई दीन नहीं है। मेरी बराबरी का संसार में कोई कुटिलों का शिरोमणि नहीं है और हे नाथ! आपके बराबर कुटिलता का नाश करने वाला कोई नहीं है। मैं मन से, वचन से और कर्म से पापों में रत हूँ और हे कृपालो! आप पापियों को परमगति देने वाले हैं। मैं अनाथ हूँ और हे प्रभो! आप अनाथों का हित करने वाले हैं। यह बात मेरे मन से कभी नहीं जाती। मैं दुखी हूँ, आप दुःखों को दूर करने वाले हैं आपका यश यह वेद-पुराण गा रहे हैं। मैं (जन्म-मृत्युरूप) संसार से डरा हुआ हूँ और आप सब भय नाश करने वाले हैं (आपके और मेरे इतने सम्बन्ध होने पर भी) क्या कारण है, कि आप मुझ पर कृपा नहीं करते? हे श्रीराम जी! आप आनन्द के धाम तथा श्रम के नाश करने वाले हैं और मैं संसार के तीनों (दैहिक, दैविक और भौतिक) श्रमों से अत्यन्त ही दुःखी हो रहा हूँ। इन बातों को अपने मन में विचारकर तथा अपनी प्रभुता को समझकर तुलसीदास को अपनी शरण में रख ही लीजिये।। इस प्रकार तुलसीदास ने जीव की दीनता तथा प्रभु (ब्रह्म) की महानता का वर्णन किया है। जीव निस्सहाय, पापी,

दीन, भोगी—विलासी है और भगवान् (ब्रह्म) अकारण कृपाशील एवं दीन—दुखियों के कष्टों को हरण करने वाले हैं। इस प्रकार तुलसीदास अपने आराध्य श्रीराम को अपने जीवन का आधार मानते हैं तथा उनसे बार—बार यही प्रार्थना करते हैं कि हे स्वामी आप मुझे अपने चरणों में शरण दे दो ताकि मैं भव—सागर से आसानी से तर सकूँ। तुलसीदास को पूर्ण भरोसा है कि मेरे भगवान् संसार के तीनों तापों दैहिक, दैविक और भौतिक का हरण करने वाले हैं इस प्रकार कार्पण्य में भक्त अपने को छोटा, असमर्थ समझता है तथा अपने स्वामी को बड़ा, समर्थ समझता है। भक्त अपने स्वामी के सामने अपनी लघुता की सम्पूर्ण बातें खोलकर रख देता है। वह अपने आराध्य से कुछ भी नहीं छिपाता। भक्त अपने दोषों की स्वीकृति करते हुए स्वयं को धिक्कारता है। कार्पण्य भाव दास्य भक्ति का आधार है। कार्पण्य में अपने पापों का वर्णन तथा भगवान् की महिमा का वर्णन अपने आप आ जाता है। इसलिए विनयपत्रिका तो तुलसीदास की कार्पण्याभिव्यक्ति का आगार है। इस प्रकार दीन—हीन तुलसीदास के द्वारा पतित पावन, दीनबंधु राम के समक्ष आर्त पुकार करना सर्वथा समीचीन है—

“द्वार हौं भोर ही को आजु।

रटत रिरिहा आरि और न, कौर ही तें काजु।।

कलि कराल दुकाल दारुन, सब कुभाँति कुसाजु।

नीच जन, मन ऊँच, जैसी कोढ़ में की खाजु।।

हहरि हिय में सदय बूझयो जाइ साधु—समाजु।

मोहु से कहूँ कतहुँ कोउ, तिन्ह कह्यो कोसलराजु।।

दीनता—दारिद दलै को कृपाबारिधि बाजु।

दानि दसरथ राय के, तू बानइत सिरताजु।।

जनम को भूखो भिखारी हौं गरीब निवाजु।

पेट भरि तुलसिहि जेंवाइय भगति—सुधा सुनाजु।।<sup>108</sup>

अर्थात् हे भगवन्! आज सबेरे से ही मैं आपके दावाजे पर अड़ा बैठा हूँ। रें—रें करके रट रहा हूँ, गिड़गिड़ाकर माँग रहा हूँ, मुझे और कुछ नहीं चाहिये। बस, एक कौर टुकड़े से ही काम बन जायगा। (जरा—सी कृपा—दृष्टि से ही मैं पूर्णकाम हो जाऊँगा)। (यदि आप यह कहें कि कोई उद्यम क्यों नहीं करता? गिड़गिड़ाकर भीख

क्यों माँगता है, तो इसका उत्तर यही है कि) इस भयंकर कलियुग में (उत्तम साधन रूपी उद्यम का) बड़ा ही दारुण दुर्भिक्ष पड़ गया है, जितने उद्यम और उपाय—साधन हैं, सभी बुरे हैं। कोई—सा भी निर्विघ्न पूरा नहीं होता, इससे आपसे भीख माँगना ही मैंने उचित समझा है। (कलियुगी) मनुष्यों की करतूत तो नीच है (दिन—रात विषयों के लिये ही पाप में रत रहते हैं) और उनका मन ऊँचा है (चाहते हैं सच्चा सुख मिले, परन्तु सच्चा मोक्षरूप सुख बिना भगवत्कृपा हुए मिलता नहीं) जैसी कि कोढ़की खाज (जिसे खुजलाते समय सुख मिलता है, पर पीछे मवाद निकलने पर जलन पैदा हो जाती है उसी के समान इन्द्रियों के साथ विषय का संयोग होने पर आरम्भ में तो सुख भासता है, परन्तु परिणाम में महादुःख होता है इसलिये विषय केवल दुःखदायी ही है, इसी बात को समझकर मैंने किसी भी उद्यम में मन नहीं लगाया)। मैंने हृदय में डरकर कृपालु संत—समाज से पूछा कि कहिये, मुझ—सरीखे (उद्यमहीन को) भी कोई शरण में लेगा? संतों ने (एक स्वर से) यही उत्तर दिया कि एक कोसलपति महाराज श्री रामचन्द्र जी ही (ऐसों को शरण में) रख सकते हैं। हे कृपा के समुद्र! आपको छोड़कर दीनता और दरिद्रता का नाश कौन कर सकता है? हे दशरथनन्दन! दानियों का बाना रखने वालों में आप श्रेष्ठ हैं। हे गरीबनिवाज! मैं जन्म का भूखा गरीब भिखमंगा हूँ। बस ,अब इस तुलसी को भक्तिरूपी अमृत के समान सुन्दर भोजन पेटभर खिला दीजिये (अपने चरणों में ऐसी भक्ति दे दीजिये कि फिर दूसरी कोई कामना ही न रह जाय) इस प्रकार तुलसीदास अपने (आराध्य) प्रभु से भक्ति का वरदान माँगते हैं क्योंकि सांसारिक विषयों से मिलने वाला सुख सच्चा नहीं है। जब संसार ही अपूर्ण है तो उससे मिलने वाला सुख कैसे पूर्ण होगा। अतः तुलसीदास ईश्वर से सच्चे सुख की कामना करते हैं। भगवत्कृपा के बिना सच्चा सुख मिल नहीं सकता। इसलिए तुलसीदास ईश्वर से भक्ति का वरदान माँगते हैं कार्पण्य भाव में भक्त भगवान् में गहरी आस्था, संसार की निस्सारता और उपास्य के सम्मुख उपासक की दीनता का वर्णन करता है। कार्पण्य भाव भक्त की गहरी आस्था का बोधक है।

**“हरि तजि और भजिये काहि?**

**नाहिनै कोउ राम सो ममता प्रनतपर जाहि।।**

**कनककसिपु बिरंचिको जन करम मन अरु बात।**

सुतहिं दुखवत बिधि न बरज्यो कालके घर जात ॥

संभु—सेवक जान—जग, बहु बार दिये दस सीस ।

करत राम—बिरोध सो सपनेहु न हटक्यो ईस ॥

और देवन की कहा कहौं, स्वार्थहिके मीत ।

कबहु काहु न राख लियो कोउ सरन गयउ समीत ॥

को न सेवत देत संपति लोकहू यह रीति ।

दास तुलसी दीन पर एक राम ही की प्रीति ॥<sup>109</sup>

अर्थात् भगवान् श्री हरि को छोड़कर और किसका भजन करें? श्री रघुनाथ जी के समान ऐसा कोई भी नहीं है जिसकी दीन शरणागतों पर ममता हो। (प्रमाण सुनिये) हिरण्यकशिपु ब्रह्माजी का कर्म, मन और वचन से भक्त था, किन्तु ब्रह्मा ने (उसके काल को जानते हुए भी) उसे पुत्र (प्रह्लाद) को ताड़ना देते समय नहीं रोका (और फलस्वरूप) वह यमलोक चला गया। (यदि वे पहले से उसे रोक देते तो बेचारा क्यों मरता?)। संसार जानता है कि रावण शिवजी का भक्त था और उसने कई बार अपने सिर काट-काटकर शिवजी को अर्पित किये थे, किन्तु जब वह श्रीरघुनाथ जी के साथ वैर करने लगा तब आपने उसे स्वप्न में भी न रोका (यह जानते थे कि श्रीराम जी के साथ वैर करने से यह मारा जायेगा)। जब ब्रह्मा जी और शिवजी का यह हाल है तब और देवताओं की तो बात ही क्या कही जाय? वे तो स्वार्थ के मित्र हैं ही। उनमें से किसी ने भी कभी भयभीत शरणागत की रक्षा नहीं की। सेवा करने से कौन धन नहीं देता है? (सभी देते हैं।) यह तो दुनिया की चाल ही है। किन्तु हे तुलसीदास! दीनों पर तो एक श्रीरघुनाथ जी का ही स्नेह है। (वे बिना ही सेवा किये केवल शरण होते ही अपना लेते हैं, देवताओं की भाँति सर्वांगपूर्ण अनुष्ठान की अपेक्षा नहीं करते)।" इस प्रकार तुलसीदास ने अपने आराध्य की दीनबंधुता, कृपाशीलता इत्यादि का, पौराणिक संदर्भों का हवाला देकर ख्यापन किया है। तुलसीदास ने भगवान् श्री राम की शरणागत वत्सलता का वर्णन बहुत ही सुन्दर तरह से किया है। वस्तुतः यह राम की रीति रही है। राम सदा—सर्वदा से दीनों पर कृपा करते आए हैं। तुलसीदास ने उदाहरण दे-देकर समझाया है कि किस प्रकार भगवान् श्री राम ब्रह्मा तथ शिवजी से महान् हैं। उनकी महानता ही तुलसीदास को निश्चिन्त करती है कि शरण में आने पर प्रभु भक्त को अपना बना लेते हैं तथा

दीनों पर दया करने वाले एक राम ही हैं। इसी प्रकार का एक और उदाहरण निम्न हैं—

“एक सनेही साचिलो केवल कोसलपालु।

प्रेम—कनोड़ो रामसो नहिं दूसरो दयालु।।

तन—साथी सब स्वारथी, सुर ब्यवहार—सुजान।

आरत—अधम—अनाथ हित को रघुबीर समान।।

नाद निठुर, समचर सिखी, सलिल सनेह न सूर।

ससि सरोग, दिनकरु बड़े, पयद प्रेम—पथ कूर ।।

जाको मन जासों बाँध्यो, ताको सुखदायक सोइ।

सरल सील साहिब सदा सीतापति सरिस न कोइ।।

सुनि सेवा सही को करै, परिहरै को दूषन देखि।

केहि दिवान दिन दीन को आदर—अनुराग बिसेखि।।

खग—सबरी पितु—मातु ज्यों माने, कपि को किये मीत।

केवट भेंटयो भरत ज्यों, ऐसो को कहु पतित—पुनीत।।

देइ अभागहिं भागु को, को राखै सरन सभीत।

बेद—बिदित बिरुदावली, कबि—कोबिदगावत गीत।।

कैसेउ पाँवर पातकी, जेहि लई नामकी ओट।

गाँठी बाँध्यो दाम तो, परख्यो न फेरि खर—खोट।।

मन—मलीन, कलि किलबिषी होत सुनत जासु कृत—काज।

सो तुलसी कियो आपुनो रघुबीर गरीब—निवाज।।”<sup>110</sup>

अर्थात् सच्चे स्नेही तो केवल एक कोशलेन्द्र श्री रामचन्द्र जी हैं। प्रेम का कृतज्ञ राम जी के समान कोई दूसरा दयालु नहीं है। इस शरीर से सम्बन्ध रखने वाले सभी स्वार्थी हैं, देवता व्यवहार में चतुर हैं (जितनी सेवा करोगे, उतना ही फल देंगे और यदि कुछ बिगड़ गया, तो सारा किया—कराया व्यर्थ कर देंगे)। दुखी, नीच और अनाथ का हित करने वाला श्री रघुनाथ जी के समान दूसरा कौन है? (कोई भी नहीं)। (अब प्रेमियों की दशा देखिये) राग अथवा संगीत का स्वर निर्दय होता है (उसी के कारण बेचारा हिरण जाल में फँसकर मारा जाता है)। अग्नि सबके साथ समान व्यवहार करने वाली है, (बेचारे पतंग को उसी में पड़कर भस्म होना पड़ता

है) जल भी प्रेम के निबाहने में वीर नहीं है (मछली तो उसके बिना क्षणभर भी जीवित नहीं रहती, पर वह ऐसा है कि उसको मछली के बिना कोई दुःख नहीं होता)। चन्द्रमा (आजन्म) रोगी है (उसका प्रेमी चकोर तो उस पर मुग्ध होकर अंगारे चुगता है, किन्तु चन्द्रमा उस पर तनिक भी तरस नहीं खाता)। सूर्य बड़प्पन में भूल रहा है (कमल की तो कली-कली उसे देखकर खिल उठती है, पर वह उसे नीच समझकर क्षणभर में ही सुखा डालता है) और मेघ तो प्रेम-पथ के लिये बड़ा ही निर्दय है (बेचारे चातक को तरसाता ही नहीं, उस पर गरज-गरजकर ओले बरसाता है और बिजली गिराता है)। (पर क्या किया जाय) जिसका मन जिससे बँध गया, उसके लिये वही सुख देने वाला होता है। (दुख को भी सुख मान लेता है); किन्तु (मेरी दृष्टि में) श्रीरघुनाथ जी-सरीखा सरल, सुशील स्वामी दूसरा नहीं है। सेवा सुनते ही उस पर 'सही' कर देने वाला-सेवा मान लेने वाला दूसरा कौन है? और अपराध देखकर भी उन पर कौन खयाल नहीं करता? किसके दरबार में दीनों का सम्मान विशेष प्रेम से किया जाता है। पक्षी (जटायु) और शबरी को किसने पिता और माता के समान माना? बन्दरों (सुग्रीव आदि)-को किसने अपना मित्र बनाया? गुह निषाद से जो अपने सगे भाई भरत की तरह हृदय से लगाकर मिले, भला बताओ तो, पापियों को पवित्र करने वाला ऐसा दूसरा कौन है? (कोई नहीं)। अभागों को कौन भाग्यवान् बनाता है? डरे हुआँ को कौन अपनी शरण में रखता है? वेदों में किसकी यश-गाथा गायी जा रही है और कवि एवं विद्वान् किसके गीत गा रहे हैं? (भगवान् राम चन्द्र ही एक ऐसे दीनबन्धु भक्तवत्सल हैं)। जिसने उनके नाम (राम)-का आश्रय लिया, चाहे वह कैसा ही नीच और पापी क्यों न हो, उसे श्रीराम ने इस तरह अपना लिया, जैसे कोई (मिले हुए) धन को (तुरंत) गाँठ में बाँध लेता है, और उसके खरे या खोटेपन को भी नहीं परखता। जो ऐसा मलिन मनवाला है कि जिसके कलियुग में किये हुए कर्मों को सुनकर सुनने वाले भी पापी हो जाते हैं, उस तुलसीदास को भी उन्होंने अपना दास मान लिया। श्री रघुनाथ जी ऐसे ही गरीबनिवाज हैं। इस प्रकार तुलसीदास अपने आराध्य श्रीराम की महिमा का गान उदाहरण दे देकर किया है तथा लिखा है कि वे तो दीनों तथा पतितों पर अकारण ही उपकार करने वाले हैं। उनके समान प्रेम का कृतज्ञ कोई नहीं है। वे दयालु हैं। तुलसीदास लिखते हैं कि उनकी थोड़ी सी सेवा ही बहुत फल देती है। भगवान् राम

ने अपने भक्तवत्सल नाम को जटायु, शबरी, सुग्रीव तथा गुहनिषाद को प्रेम पूर्वक अपनाकर सफल किया। भगवान् की शरण में जाकर भक्त निर्भय, निश्चिन्त तथा शोक रहित हो जाता है। उनकी शरण में आने पर पापी भी तर जाते हैं। तुलसीदास अपने आप को पापियों में अग्रगण्य मानते हैं वे लिखते हैं कि भगवान् ने मुझ सरीखे को अपनाकर अपना दास बना लिया तथा अपना गरीब निवाज नाम सफल किया। इस प्रकार तुलसीदास अनेक उदाहरण दे-देकर अपने आराध्य की महिमा का गान करते हैं।

### 3 विनय-पत्रिका में भक्ति की भूमिकाएँ-

**दीनता**-दीनता का अर्थ है अपने को सब प्रकार से तुच्छ समझना। दीनता में भक्त अपने दोषों की स्वीकृति करते हुए स्वयं को धिक्कारता है। दैन्यभाव दास्य भक्ति का आधार है। दीनता में अपने पापों का वर्णन अपने आप आ जाता है। अपराधों का स्मरण हृदय के दैन्य को और अधिक उद्वेलित करता है, इसलिये सूरदास अपने कल्पित अपराधों की अभिव्यक्ति द्वारा हृदय के दैन्यभाव का चित्र उपस्थित करते हैं-

“कौन सुने यह बात हमारी?

समर्थ और देखौं तुम बिनु, कासौं बिथा कहाँ, बनवारी?

तुम अविगत, अनाथ के स्वामी, दीन-दयाल, निकुंज- बिहारी।

सदा सहाइ करी दासनि की, जो उर धरी सोइ प्रतिपारी।

अब किहँ सरन जाऊँ जादौपति, राखि लेहु बलि, त्रास निवारी।

सूरदास चरननि की बलि-बलि, कौनखता तैं कृपा बिसारी?।।”<sup>111</sup>

अर्थात् हे बनवारी! हमारी यह बात कौन सुन सकता है? तुम्हारे अतिरिक्त किसी दूसरे को इसके समर्थ नहीं फिर देखा किससे अपनी व्यथा कहूँ? हे निकुंज बिहारी! तुम अविज्ञात, अनाथों के स्वामी और दीनों पर दया करने वाले हो। तुमने सदैव से भक्तों की सहायता की है, जिसने (तुमको) हृदय में रक्खा उसकी ही तुमने रक्षा की। हे यादवपति! अब मैं किसकी शरण में जाऊँ? मैं तुम पर बलिहारी जाता हूँ। दुःख दूर कर मुझे शरण दीजिये। सूरदास कहते हैं मैं आपके चरणों की बार-बार बलिहारी जाता हूँ, किस अपराध से तुम मुझ पर कृपा करना भूल गये



हो।”<sup>112</sup> इसी प्रकार कबीर भी प्रभु से दीनता पूर्वक प्रार्थना करते हैं कि हे प्रभु! मुझ दुखी कबीर को आप शीघ्र दर्शन दीजिए—

“सुनहुं हमारी दादि गुसाईं, अब जिन करहु बधीर।

तुम्ह धीरज मैं आतुर स्वामीं, काचै भांडै नीर।।

बहुत दीनन कै बिछुरे माधौ, मन नहीं बांधै धीर।

देह वंता तुम्ह मिलहु कृपा करि, आरतिवंत कबीर।।”<sup>113</sup>

अर्थात् “हे करुणा निधान! आप मेरी पुकार सुनकर दया कीजिए, अब कृपा करने में तनिक भी विलम्ब मत कीजिए। हे प्रभु! आप धैर्य के साक्षात् स्वरूप हैं और मैं आतुरता का पुतला वस्तुतः मेरा अस्तित्व तो कच्चे पात्र में भरे हुए जल के समान है जो चाहे तब विनष्ट हो सकता है। हे माधव, प्रभु! मेरा और आपका वियोग बहुत समय से है, अतः मन आपके मिलनार्थ अधीर हो रहा है। अब शरीर क्षीण होता जा रहा है अतः दुःखी कबीर को आप शीघ्र दर्शन दीजिए।”<sup>114</sup> कबीर की तरह ‘विनयपत्रिका’ में यत्र—तत्र—सर्वत्र गोस्वामी (तुलसी) ने अपने दोषों का स्वीकरण किया है। तुलसी अपने दोषों को प्रकाशित करने के उपरांत भगवान् राम से विनती करते हैं कि वे उन्हें अपने चरणों में स्थान प्रदान करें क्योंकि अन्य किसी भी उपाय से इतने बड़े ‘पापी’ का कल्याण असंभव है। दीनता में भक्त अपने को छोटा असमर्थ समझता है तथा अपने स्वामी को बड़ा, समर्थ समझता है। भक्त अपने स्वामी के सामने अपनी लघुता की सम्पूर्ण बातें खोलकर रख देता है। वह अपने आराध्य से कुछ भी नहीं छिपाता। विनय—पत्रिका तो दीनता का ही दस्तावेज है—

“तू दयालु, दीन हौं, तू दानि, हौं भिखारी।

हौं प्रसिद्ध पातकी, तू पाप—पुंज—हारी।।

नाथ तू अनाथ को, अनाथ कौन मोसो।

मो समान आरत नहीं, आरतिहर तोसो।।

ब्रह्म तू हौं जीव, तू है ठाकुर, हौं चैरो।

तात—मात, गुरु—सखा, तू सब बिधि हितु मेरो।

तोहिं मोहिं नाते अनेक, मानियै जो भावै।

ज्यों त्यों तुलसी कृपालु! चरन—सरन पावै।।”<sup>115</sup>

अर्थात् हे नाथ! तू दीनों पर दया करने वाला है, तो मैं दीन हूँ। तू अतुल दानी है, तो मैं भिखमंगा हूँ। मैं प्रसिद्ध पापी हूँ, तो तू पाप-पुंजो का नाश करने वाला है। तू अनाथों का नाथ है, तो मुझ-जैसा अनाथ भी और कौन है? मेरे समान कोई दुःखी नहीं है और तेरे समान कोई दुःखों को हरने वाला नहीं है। तू ब्रह्म है, मैं जीव हूँ। तू स्वामी है, मैं सेवक हूँ। अधिक क्या, मेरा तो माता-पिता, गुरु, मित्र और सब प्रकार से हितकारी तू ही है। मेरे-तेरे अनेक नाते हैं; नाता तुझे जो अच्छा लगे, वही मान ले। परन्तु बात यह है कि हे कृपालु! किसी भी तरह यह तुलसीदास तेरे चरणों की शरण पा जावे। इस प्रकार तुलसीदास अपने आराध्य श्री राम से निवेदन करते हैं कि हे प्रभु मुझ जैसे अनाथ के आप ही स्वामी हैं। आप कृपा करके मुझे अपने चरणों में स्थान दे दो। तुलसीदास को अपने स्वामी की सामर्थ्य पर पूर्ण विश्वास है तथा उनके समान दुःखों को हरने वाला दूसरा कोई नहीं है। इसी बात की दुहाई देते हुए तुलसीदास बार-बार लिखते हैं—

“तुम सम दीनबंधु, न दीन कोउ मो सम। सुनहु नृपति रघुराइ।  
 मोसम कुटिल-मौलिमनि नहिं जग, तुमसम हरि! न हरन कुटिलाई।।  
 हौं मन-बचन-कर्म पातक-रत, तुम कृपालु पतितन- गतिदाई।  
 हौं अनाथ, प्रभु! तुम अनाथ-हित, चित यहि सुरति कबहुँ नहिं जाई।।  
 हौं आरत, आरति-नासक तुम, की रति निगम पुराननि गाई।  
 हौं सभीत तुम हरन सकल भय, कारन कवन कृपा बिसराई।।  
 तुम सुखधाम राम श्रम-भंजन, हौं अति दुखित त्रिबिध श्रम पाई।  
 यह जिय जानि दास तुलसी कहँ राखहु सरन समुझि प्रभुताई।।”<sup>116</sup>

अर्थात् हे महाराज रामचन्द्र जी! आपके समान तो कोई दीनों का कल्याण करने वाला बन्धु नहीं है और मेरे समान कोई दीन नहीं है। मेरी बराबरी का संसार में कोई कुटिलों का शिरोमणि नहीं है और हे नाथ! आपके बाराबर कुटिलता का नाश करने वाला कोई नहीं है। मैं मन से, वचन से और कर्म से पापों में रत हूँ और हे कृपालो! आप पापियों को परमगति देन वाले हैं। मैं अनाथ हूँ और हे प्रभो! आप अनाथों का हित करने वाले हैं यह बात मेरे मन से कभी नहीं जाती।। मैं दुःखी हूँ, आप दुःखों के दूर करने वाले हैं। आपका यश यह वेद-पुराण गा रहे हैं। मैं (जन्म-मृत्युरूप) संसार से डरा हुआ हूँ और आप सब भय नाश करने वाले हैं।

(आपके और मेरे इतने सम्बन्ध होने पर भी) क्या कारण है, कि आप मुझ पर कृपा नहीं करते? ।। हे श्रीराम जी! आप आनन्द के धाम तथा श्रम के नाश करने वाले हैं और मैं संसार के तीनों (दैहिक, दैविक और भौतिक) श्रमों से अत्यन्त ही दुःखी हो रहा हूँ। इन बातों को अपने मन में विचार कर तथा अपनी प्रभुता को समझकर तुलसीदास को अपनी शरण में रख ही लीजिये।।” इस प्रकार तुलसीदास अपने आराध्य श्री राम को अपने जीवन का आधार मानते हैं तथा उनसे बार—बार यही प्रार्थना करते हैं कि हे स्वामी आप मुझे अपने चरणों में शरण दे दो ताकि मैं भव—सागर से आसानी से तर सकूँ। तुलसीदास को पूर्ण भरोसा है कि मेरे भगवान् संसार के तीनों तापों दैहिक, दैविक और भौतिक को हरण करने वाले हैं। इसी विश्वास के साथ वे बार—बार लिखते हैं कि—

“यहै जानि चरनन्हि चित लायो ।

नाहिन नाथ! अकारन को हितु तुम समान पुरान—श्रुति गायो ।।  
जननि—जनक, सुत—दार, बंधुजन भये बहुत जहँ—जहँ हौं जायो ।  
सब स्वारथरहित प्रीति कपट चित, काहू नहिं हरिभजन सिखायो ।।  
सुर—मुनि, मनुज—दनुज, अहि—किन्नर, मैं तनु धरि सिर काहिन नायो ।  
जरत फिरत त्रयताप पापबस, काहु न हरि! करि कृपा जुड़ायो ।।  
जतन अनेक किये सुख—कारन, हरिपद—बिमुख सदा दुख पायो ।  
अब थाक्यो जलहीन नाव ज्यों देखत बिपति—जाल जग छायो ।।  
मो कहँ नाथ! बूझिये, यह गति सुख—निधान निज पति बिसरायो ।  
अब तजि रोष करहु करुना हरि! तुलसिदास सरनागत आयो ।।”<sup>117</sup>

अर्थात् यही जानकर मैंने (सब ओर से हटाकर) आपके चरणों में चित्त लगाया है कि हे नाथ! आपके समान, बिना ही कारण हित करने वाला दूसरा कोई नहीं है, ऐसा वेद पुराण गाते हैं। जहाँ—जहाँ (जिस—जिस योनि में) मैंने जन्म लिया, वहाँ—वहाँ मेरे बहुत—से पिता—माता, पुत्र—स्त्री और भाई बन्धु हुए। परन्तु वे सभी स्वार्थ—साधन के लिये मुझसे प्रेम करते रहे, उनके मन में छल—कपट रहा। इसीलिये किसी ने भी मुझे श्रीहरिका भजन नहीं सिखाया। (सभी संसार में फँसे रहने की शिक्षा देते रहे, भगवद्भजनका उपदेश नहीं दिया)। शरीर धारण कर मैंने (अपनी भलाई करने के लिये) देवता—मुनि, मनुष्य—राक्षस, सर्प—किन्नर आदि किसको सिर नहीं नवाया?

(सभी के चरणों में सिर रख-रखकर खुशामदें की) किन्तु हे हरे! पाप के फलस्वरूप तीनों तापों से जलते फिरते हुए मुझको किसी ने दयाकर शीलल नहीं किया। (मोक्ष-प्रदान कर संसार का ताप कोई नहीं मिटा सके)। मैंने सुख के लिये बहुत-से साधन किये, पर भगवच्चरणों से विमुख होने के कारण सदा दुःख ही पाया। संसार में विपत्तियों का जाल बिछा हुआ देखकर अब मैं (समस्त साधनों से) ऐसा थक गया हूँ, जैसे बिना पानी के नौका थक जाती है। हे नाथ! समझ लीजिये, मेरी यह दशा इसलिये हुई है कि मैंने अपने सुख-निधान स्वामी को भुला दिया। हे हरे! अब मेरे दोषों का खयाल छोड़कर इस शरणागत तुलसीदास पर दया कीजिये। इस प्रकार तुलसीदास अपने आराध्य से सांसारिक तापों को हरने की प्रार्थना करते हैं तथा प्रभु के चरणों में शरण पाना चाहते हैं। तुलसीदास अपने स्वामी से अपना उद्धार करने की प्रार्थना करते हैं—

“आपनो हित रावरेसों जो पै सूझै ।

तौ जनु तनुपर अछत सीस सुधि क्यों कबंध ज्यों जूझै ।।

निज अवगुन, गुन राम! रावरे लखि—सुनि मति—मन रुझै ।

रहनि—कहनि—समुझनि तुलसी की को कृपालु बिनु बूझै ।।”<sup>118</sup>

अर्थात् हे नाथ! यदि इस जीव को अपना कल्याण आपके द्वारा होता दीख पड़े, तो यह जब तक शरीर पर सिर है तब तक (बिना सिर के) कबन्ध की तरह क्यों लड़ता फिरे? (भगवान् की कृपा का भरोसा नहीं है, इसी से तो सिर रहते हुए ही—सिर पर भगवान् के रहते हुए ही—यह अपने को मस्तकहीन मानकर—भगवान् को भुलाकर—अन्धे की—ज्यों सुख के लिये हर किसी से लड़ रहा है। परन्तु मस्तक बिना—भगवान् के आधार बिना— न तो लड़कर जीत ही सकेगा और न कल्याण ही होगा)। अपने अवगुण ओर आपके देवदुर्लभ गुणों को देख-सुनकर, हे राम जी! मेरी बुद्धि और मन रुक जाते हैं। संकोच होता है कि ऐसे मलिन कर्मों वाला मैं आप सच्चिदानन्दघन के सामने कैसे जाऊँ। हे कृपालो! तुलसी का आचरण, कथन और रहस्य आपको छोड़कर और कौन समझ सकता है?(आप इस दीनकी सारी स्थिति जानते हैं, अपनी कृपा-दृष्टि से ही इसका उद्धार कीजिये)। इस प्रकार तुलसीदास को अपने स्वामी पर पूर्ण भरोसा है कि वही मेरा कल्याण करेंगे। उनके अलावा किसी में इतनी सामर्थ्य नहीं है। तुलसीदास अपने आराध्य से बार-बार निवेदन

करते हैं कि हे प्रभु आप मुझे अपने चरणों में शरण दो। इसी बात की अभिव्यक्ति निम्न पद में हुई है—

“मैं हरि पतित—पावन सुने।

मैं पतित तुम पतित—पावन दोउ बानक बने॥

ब्याध गनिका गज अजामिल साखि निगमनि भरे।

और अधम अनेक तारे जात कापै गने॥

जानि नाम अजानि लीन्हें नरक सुरपुर मने।

दासतुलसी सरन आयो, राखिये आपने॥”<sup>119</sup>

अर्थात् हे हरे! मैंने तुम्हें पतितों को पवित्र करने वाला सुना है। सो मैं तो पतित हूँ और तुम पतितपावन हो; बस दोनों के बानक बन गये, दोनों का मेल मिल गया। (अब मेरे पावन होने में क्या सन्देह है?)। वेद साक्षी दे रहे हैं कि तुमने ब्याध (बाल्मीकि), गणिका (पिंगला वेश्या), गजेन्द्र ओर अजामिल को तथा और भी अनेक नीचों को संसार—सागर से पार कर दिया है, जिनकी गिनती ही किससे हो सकती है जिन्होंने जानकर या बिना जाने तुम्हारा नाम ले लिया, उन्हें नरक और स्वर्ग में जाने की मनाई कर दी गयी है। अर्थात् वे भवसागर से पार होकर मुक्त हो जाते हैं (यह सब समझ—बूझकर ही अब) तुलसी भी तुम्हारी शरण में आया है, इसे भी अपना लो। इस प्रकार तुलसीदास अपने स्वामी को शरण में लेने का आग्रह करते हैं। तुलसीदास के मन में यह भारी भरोसा है कि मेरे नाथ पतित—पावन हैं मुझ पतित को भी अवश्य अपनावेंगे यही अभिव्यक्ति निम्न पद में की गई है—

“माधवजू, मोसम मंद न कोऊ।

जद्यपि मीन—पतंग हीनमति, मोहि नहिं पूजैं ओऊ॥

रुचिर रूप—आहार—बस्य उन्ह, पावक लोह न जान्यो।

देखत बिपति विषय न तजत हौं, ताते अधिक अयान्यो॥

महामोह—सरिता अपार महँ, संतत फिरत बह्यो।

श्रीहरि—चरन—कमल—नौका तजि, फिरि फिरि फेन गह्यो॥

अस्थि पुरातन छुधित स्वान अति ज्यौं भरि मुख पकरै।

निज तालूगत रुधिर पान करि, मन संतोष धरै॥

परम कठिन भव—ब्याल—ग्रसित हौं त्रसित भयो अति भारी।

चाहत अभय भेक सरनागत, खगपति—नाथ बिसारी ।।  
जलघर—बृंद जाल—अंतरगत होत सिमिटि इक पासा ।  
एकहि एक खात लालच—बस, नहिं देखत निज नासा ।।  
मेरे अघ सारद अनेक जुग, गनत पार नहिं पावै ।  
तुलसीदास पतित—पावन प्रभु यह भरोस जिय आवै ।।<sup>120</sup>

अर्थात् हे माधव! मेरे समान मूर्ख कोई भी नहीं है। यद्यपि मछली और पतंग हीनबुद्धि हैं, परन्तु वे भी मेरी बराबरी नहीं कर सकते। पतंगने सुन्दर रूप के वश हो दीपक को अग्नि नहीं समझा और मछली ने आहार के वश हो लोहे को काँटा नहीं जाना, परन्तु मैं तो विषयों को प्रत्यक्ष विपत्तिरूप देखकर भी नहीं छोड़ता हूँ (अतएव मैं उनसे अधिक मूर्ख हूँ)। महामोहरूपी अपार नदी में निरन्तर बहता फिरता हूँ। (इससे पार होने के लिये) श्रीहरि के चरण—कमलरूपी नौका को तजकर बार—बार फेनों को (अर्थात् क्षणभंगुर भोगों को पकड़ता हूँ। जैसे बहुत भूखा कुत्ता पुरानी सूखी हड्डी को मुँह में भरकर पकड़ता है और अपने तालू में रगड़ लगने से जो खून निकलता है, उसे चाटकर बड़ा सन्तुष्ट होता है (यह नहीं समझता कि यह रक्त तो मेरे ही शरीर का है। यही हाल मेरा है। मैं संसार रूपी परम कठिन सर्प के डँसने से अत्यन्त ही भयभीत हो रहा हूँ, परन्तु (मूर्खता यह है कि उससे बचने के लिये) गरुड़गामी भगवान् के शरणागत न होकर (विषयरूपी) मेंढक की शरण से अभय चाहता हूँ। जैसे जल में रहने वाले जीवों के समूह सिमट—सिमटकर जाल में इकट्ठे हो जाते हैं और लोभवश एक दूसरे को खाते हैं, अपना भावी नाश नहीं देखते (वैसी ही दशा मेरी है)। यदि सरस्वती जी अनेक युगों तक मेरे पापों को गिनती रहें, तब भी उनका अन्त नहीं पा सकतीं। मेरे मन में तो यही भरोसा है कि मेरे नाथ पतित—पावन हैं (मुझ पतित को भी अवश्य अपनावेंगे)। इस प्रकार तुलसीदास को अपने भगवान् श्रीराम की कृपा—दृष्टि पर पूर्ण विश्वास है कि प्रभु मुझे अवश्य अपनावेंगे और अपना गरीब—निवाज—नाम सत्य करेंगे। प्रभु की इसी महिमा का बखान करते हुए तुलसीदास लिखते हैं कि—

“कहाँ जाऊँ, कासों कहीं, कौन सुनै दीनकी ।

त्रिभुवन तुही गति सब अंगहीनकी ।।

जग जगदीस घर घरनि घनेरे हैं ।

निराधार के अधार गुनगन तेरे हैं ।।  
 गजराज—काज खगराज तजि धायो को ।  
 मोसे दोस —कोस पोसे, तोसे माय जायो को ।।  
 मोसे कूर कायर कुपूत कौड़ी आधके ।  
 किये बहुमोल तैं करैया गीध—श्राधके ।।  
 तुलसी की तेरे ही बनाये, बलि, बनैगी ।  
 प्रभु की बिलंब—अंब दोष—दुख जनैगी ।।<sup>121</sup>

अर्थात् कहाँ जाऊँ? किससे कहूँ? कौन इस (साधनरूपी धन से हीन) दीन की सुनेगा? मुझ—सरीखे सब तरह से साधन हीन की गति तो तीनों लोकों में एकमात्र तू ही है। यों तो दुनिया में घर—घर 'जगदीश' भरे हैं (सभी अपने को ईश्वर कहते हैं) पर जिसके कोई आधार नहीं उसके लिये तो एक तेरे गुण समूह का (गान) ही आधार है। भाव यह कि तेरे ही गुणों का गान कर वह संसार—सागर को पार करता है। गजराज को छुड़ाने के लिये गरुड़ को छोड़कर कौन दौड़ा था? जिसने मुझ—जैसे पापों के भण्डार का भी पालन—पोषण किया, ऐसा एक तुझे छोड़कर, और किसको किस माता ने जना है? मुझ—जैसे क्रूर, कायर, कुपूत और आधी कौड़ी की कीमत वालों को भी, हे जटायु के श्राद्ध करने वाले! तूने बहुमूल्य बना दिया। बलिहारी! तुलसी की (बिगड़ी हुई) बात तेरे ही बनाये बन सकेगी। यदि तूने मेरा उद्धार करने में देर की, तो फिर वह देररूपी माता दुःख और दोषरूपी सन्तान ही जनेगी। भाव यह कि तू कृपा करके शीघ्र उद्धार न करेगा तो मैं पाप और दुःखों से ही घिर जाऊँगा। इस प्रकार तुलसीदास अपने स्वामी को बतला रहे हैं कि यदि आपने शीघ्र मेरा उद्धार नहीं किया तो मैं पाप और दुःखों से ग्रसित हो जाऊँगा। तुलसीदास भगवान् श्रीराम से प्रार्थना करते हैं कि हे स्वामी मुझे इस भव—बन्धन से मुक्त कर दो—

“कैसे देउँ नाथहिं खोरि ।  
 काम—लोलुप भ्रमत मन हरि भगति परिहरि तोरि ।।  
 बहुत प्रीति पुजाइबे पर, पूजिबे पर थोरि ।  
 देत सिख सिखयो न मानत, मूढ़ता असि मोरि ।।  
 किये सहित सनेह जे अघ हृदय राखे चोरि ।

संग-बस किये सुभ सुनाये सकल लोक निहोरि ।।  
 करौं जो कछु धरौं सचि-पचि सुकृत-सिला बटोरि ।  
 पैठि उर बरबस दयानिधि दंभ लेत अँजोरि ।।  
 लोभ मनहिं नचाव कपि ज्यों गरे आसा-डोरि ।  
 बात कहौं बनाइ बुध ज्यों, बर बिराग निचोरि ।।  
 एतेहुँ पर तुम्हरो कहावत लाज अँचई घोरि ।  
 निजलता पर रीझि रघुबर, देहु तुलसिहिं छोरि ।।<sup>122</sup>

अर्थात् स्वामी को कैसे दोष दूँ? हे हरे! मेरा मन तुम्हारी भक्ति को छोड़कर कामनाओं में फँसा हुआ इधर-उधर भटका करता है। अपने पुजाने में तो मेरा बड़ा प्रेम है, (सदा यही चाहता हूँ, कि लोग मुझे ज्ञानी-भक्त मानकर पूजा करें;) किन्तु तुम्हें पूजने में मेरी बहुत ही कम प्रीति है। दूसरों को तो खूब सीख दिया करता हूँ, पर स्वयं किसी की शिक्षा नहीं मानता। मेरी ऐसी मूर्खता है। जिन-जिन पापों को मैंने बड़े अनुराग से किया था, उन्हें तो हृदय में छिपाकर रखता हूँ। पर कभी किसी अच्छे संग के प्रभाव से (बिना ही प्रेम) मुझसे जो कोई अच्छे काम बन गये हैं, उन्हें दुनिया को निहोरा कर-कर सुनाता फिरता हूँ। भाव यह है कि मुझे कोई भी पापी न समझकर सब लोग बड़ा धर्मात्मा समझें। कभी जो कुछ सत्कर्म बन जाता है उसे खेत में पड़े हुए अन्न के दानों की तरह बटोर-बटोरकर रख लेता हूँ, किन्तु हे दयानिधान! दम्भ जबरदस्ती हृदय में घुसकर उसे बाहर निकाल फेंकता है। भाव यह है कि दम्भ बढ़कर थोड़े-बहुत सुकृत को भी नष्ट कर देता है। इसके सिवा लोभ मेरे मन को आशारूपी रस्सी से इस तरह नचा रहा है, जैसे बाजीगर बंदर के गले में डोरी बाँधकर उसे मनमाना नचाता है। (इतने पर भी मैं दम्भ से) एक बड़े पण्डित की नाई परम वैराग्य के तत्त्व की बातें बना-बनाकर सुनाता फिरता हूँ। इतना दम्भी होने पर भी मैं तुम्हारा (दास) कहाता हूँ। लाज को तो मानो मैं घोलकर ही पी गया हूँ। हे रघुनाथ जी! तुम उदार हो, इस निर्लज्जता पर ही रीझकर तुलसी का बन्धन काट दो। (मुझे भव-बन्धन से मुक्त कर दो)। इस प्रकार तुलसीदास अपने आराध्य को अपने जन्म-जन्म के बन्धनों को काटने का निवेदन करते हैं तथा अपने स्वामी से यह प्रार्थना करते हैं कि हे प्रभु एक बार यह कह दीजिये कि तुलसीदास मेरा है। इसी इच्छा की अभिव्यक्ति निम्न पद में हुई है—



"दीन को दयालु दानि दूसरो न कोऊ ।  
 जाहि दीनता कहौं हौं देखौं दीन सोऊ ॥  
 सुर, नर, मुनि, असुर, नाग साहिब तौ घनेरे ।  
 (पै) तौ लौं जौ लौं रावरे न नेकु नयन फेरे ॥  
 त्रिभुवन, तिहुँ काल बिदित, बेद बदति चारी ।  
 आदि—अंत—मध्य राम! साहबी तिहारी ॥  
 तोहि माँगि माँगनो न माँगनो कहायो ।  
 सुनि सुभाव—शील—सुजसु जाचन जन आयो ॥  
 पाहन—पसु, बिटप—बिहँग अपने करि लीन्हे ।  
 महाराज दसरथ के! रंक राय कीन्हे ॥  
 तू गरीब को निवाज, हौं गरीब तेरो ।  
 बारक कहिये कृपालु! तुलसिदास मेरो ॥"<sup>123</sup>

अर्थात् हे श्रीराम जी! दीनों पर दया करने वाला और उन्हें (परमसुख) देने वाला दूसरा कोई नहीं है। मैं जिसको अपनी दीनता सुनाता हूँ उसी को दीन पाता हूँ। (जो स्वयं दीन है वह दूसरे को क्या दे सकता है? देवता, मनुष्य, मुनि, राक्षस, नाग आदि मालिक तो बहुतेरे हैं, पर वहीं तक हैं जब तक आपकी नजर तनिक भी टेढ़ी नहीं होती। आपकी नजर फिरते ही वे सब भी छोड़ देते हैं। तीनों लोकों में तीनों काल सर्वत्र यही प्रसिद्ध है और यही चारों वेद कह रहे हैं कि आदि, मध्य और अन्त में, हे राम जी! सदा आपकी ही एक—सी प्रभुता है। जिस भिखमंगे ने आपसे माँग लिया, वह फिर कभी भिखारी नहीं कहलाया। (वह तो परम नित्य सुख को प्राप्त कर सदा के लिये तृप्त और अकाम हो गया) आपके इसी स्वभाव—शील का सुन्दर यश सुनकर यह दास आपसे भीख माँगने आया। आपने पाषाण (अहल्या) पशु (बन्दर—भालू), वृक्ष (यमलार्जुन) और पक्षी (जटायु, काकभुशुण्डि) तक को अपना लिया है। हे महाराज दशरथ के पुत्र! आपने नीच रंकों को राजा बना दिया है। आप गरीबों को निहाल करने वाले हैं और मैं आपका गरीब गुलाम हूँ। हे कृपालु! (इसी नाते) एक बार यही कह दीजिये कि 'तुलसीदास मेरा है'। इस प्रकार तुलसीदास अपने आराध्य से अपनत्व बनाने की बात कर रहे हैं तथा भगवान् श्री

राम की प्रभुता की बात कर रहे हैं। तुलसीदास को पूर्ण विश्वास है कि भगवान् कृपालु हैं तथा दीनों के दुख को हरण करने वाले हैं—

“कृपा सो धौं कहाँ बिसारी राम।

जेहि करुना सुनि श्रवन दीन— दुख, धावत हौ तजि धाम।।

नागराज निज बल बिचारि हिय, हारि चरन चित दीन्हों।

आरत गिरा सुनत खगपति तजि, चलत बिलंब न कीन्हों।।

दितिसुत—त्रास—त्रसित निसिदन प्रह्लाद प्रतिग्या राखी।

अतुलित बल मृगराज—मनुज—तनु दनुज हत्यो श्रुति साखी।।

भूप—सदसि सब नृप बिलोकि प्रभु, राखु कह्यो नर—नारी।

बसन पूरि, अरि—दरप दूरि करि, भूरि कृपा दनुजारी।।

एक एक रिपुते त्रासित जन, तुम राखे रघुबीर।

अब मोहिं देत दुसह दुख बहु रिपु कस न हरहु भव—पीर।।

लोभ—ग्राह, दनुजेस—क्रोध, कुरुराज—बंधु खल मार।

तुलसीदास प्रभु यह दारुन दुख भंजहु राम उदार।।<sup>124</sup>

अर्थात्! हे श्रीरामजी! आपने उस कृपा को कहाँ भुला दिया, जिसके कारण दीनों के दुख की करुण—ध्वनि कानों में पड़ते ही आप अपना धाम छोड़कर दौड़ा करते हैं। जब गजेन्द्र ने अपने बलकी ओर देखकर और हृदय में हार मानकर आपके चरणों में चित्त लगाया, तब आप उसकी आर्त्त पुकार सुनते ही गरुड़ को छोड़कर तुरंत वहाँ पहुँचे, तनिक—सी भी देर नहीं की। हिरण्यकशिपु से रात—दिन भयभीत रहने वाले प्रह्लाद की प्रतिज्ञा आपने रखी, महान् बलवान् सिंह और मनुष्यका—सा (नृसिंह) शरीर धारण कर उस दैत्य को मार डाला, वेद इस बात का साक्षी है। ‘नर’ के अवतार अर्जुन की पत्नी द्रौपदी ने जब राजसभा में (अपनी लज्जा जाते देखकर) सब राजाओं के सामने पुकारकर कहा कि ‘हे नाथ! मेरी रक्षा कीजिये’ तब हे दैत्य शत्रु! आपने वहाँ(द्रौपदी की लाज बचाने को) वस्त्रों के ढेर लगाकर तथा शत्रुओं का सारा घमंड इन सब भक्तों को एक—एक शत्रु के द्वारा सताये जाने पर ही बचा लिया था। पर यहाँ मुझे तो बहुत—से शत्रु असह्य कष्ट दे रहे हैं। मेरी यह भव—पीड़ा आप क्यों नहीं दूर करते? लोभरूपी मगर, क्रोधरूपी दैत्यराज हिरण्यकशिपु, दुष्ट कामदेवरूपी दुर्योधन का भाई दुःशासन, ये सभी मुझ तुलसीदास

को दारुण दुःख दे रहे हैं। हे उदार रामचन्द्र जी! मेरे इस दारुण दुःख का नाश कीजिये। इस प्रकार तुलसीदास अपने आराध्य से बार-बार प्रार्थना करते हैं तथा उनकी दयालुता के उदाहरण दे-दे कर कह रहे हैं कि हे प्रभु आप तो पतितों को पावन करने वाले हैं फिर इस तुलसीदास की ओर क्यों नहीं ध्यान दे रहे हैं। जल्दी से आकर इसका भी दारुण दुःख हर लो। आप तो अत्यन्त उदार हैं। एक ही आवाज (टेर) सुनकर दौड़े आते हैं अतः तुलसीदास के दुःखों का शमन जल्दी से आकर कर दीजिए।

**मानमर्षता**— मानमर्षता का अर्थ है— अभिमान त्यागकर प्रभु की शरण में जाना। भक्ति के मार्ग में सबसे बड़ा प्रत्यूह है— आत्माभिमान। भक्त अपना अभिमान त्याग कर विनम्रता का वर्णन करता है। सूरदास ने भी अपने पदों में मानमर्षता का वर्णन किया है—

“मेरी कौन गति ब्रजनाथ?

भजन बिमुखऽरु सरन नाहीं,फिरत विषयनि साथ।

हाँ प्रतित, अपराध—पूरन, भरयौ कर्म विकार।

काम क्रोधऽरु लोभ चितवौ नाथ तुमहिँ बिसार।

उचित अपनी कृपा करिहौ तबै तौ बनि जाइ।

सोइ करहु जिहिँ चरन सेवै सूर जूठनि खाइ।।”<sup>125</sup>

अर्थात् “हे ब्रज के स्वामी! मेरी क्या गति होगी? मैं भजन से विमुख विषयों में लिप्त रहता हूँ, कहीं अन्यत्र मुझे शरण नहीं है। मैं अत्यन्त पतित, अपराधों से पूर्ण तथा विकारयुक्त कर्मों से परिपूर्ण हूँ। हे नाथ, आपको भूलकर मैं काम—क्रोध तथा लोभ में ही अनुरक्त रहता हूँ। जब आप ठीक कृपा करेंगे तभी मेरी बिगड़ी बनेगी। हे प्रभु! वही कीजिए जिससे यह सूर आपकी जूठन खाते हुए चरण—सेवा में लग जाय।”<sup>126</sup> इस प्रकार मानमर्षता में भक्त अपना अहंकार त्याग देता है तथा प्रभु की शरण में आ जाता है। तुलसी ने भी विनयपत्रिका में अनेक पदों में अपने अभिमान का भंजन कर अपने प्रभु की कृपा के लिए अपनी आकांक्षा प्रकट की है। भक्त सबसे पहले अपने अहंकार पर ही विजय पाना चाहता है। भक्त अपने अभिमान को त्यागकर प्रभु की शरण में जाता है क्योंकि वह जानता है कि ईश्वर के बिना उसका कोई हितैषी नहीं

है। इसलिए वह प्रभु के साथ अपना सम्बन्ध जोड़ता है। यही बात कबीर भी अपने पदों में लिखते हैं कि —

“अंधे हरि बिन को तेरा,  
कवन सूं कहत मेरी मेरा ॥  
तजि कुलाक्रम अभिमानां,  
झूठे भरमि कहा भुलांनां।  
झूठे तन की कहा बड़ाई,  
जे निमष मांहि जरि जाई ॥  
जब लग मनहिं विकारा,  
तब लगि नहीं छूटै संसारा।  
जब मन निरमल करि जानां,  
तब निरमल मांहि समानां।  
ब्रह्म अगनि ब्रह्म सोई,  
अब हरि बिन और न कोई।  
जब पाप पुंनि भ्रम जारी,  
तब भयौ प्रकास मुरारी ॥  
कहै कबीर हरि ऐसा,  
जहां जैसा तहां तैसा।  
भूलै भरमि परै जिनि कोई,  
राजा राम करै सो होई ॥”<sup>127</sup>

अर्थात् “हे अज्ञानांध नर! ईश्वर के बिना तेरा कौन हितैषी है? तू किससे स्नेह संबंध जोड़ता है। कुलाभिमान एवं झूठे भ्रम का परित्याग करना ही श्रेयस्कर है। मिथ्या, मृण्मय शरीर का अभिमान क्या, इसे नष्ट होते पल भी नहीं लगता। जब तक मन विषय-वासना में पड़ा हुआ है तब तक इस संसार से मुक्ति सम्भव नहीं। जब यह मन निर्मल हो जायेगा तभी उस शुद्ध स्वरूप ब्रह्म से भेंट सम्भव है। ब्रह्म ही अग्नि है, ब्रह्म ही सब कुछ है। प्रभु के बिना अब मेरा और कोई अवलम्ब नहीं। जब पाप-पुण्य और भ्रम की द्वैत भावना समाप्त हो गई, तभी ज्योतिस्वरूप परमात्मा का प्रकाश विकीर्ण हुआ। कबीर कहते हैं कि वह प्रभु ऐसा अद्भुत है कि कहीं कैसा है

तो कहीं किसी और स्वरूप का । भूलकर भी किसी को संसार संशय में संलिप्त नहीं होना चाहिए। इस संसार में वही होता है जो प्रभु को स्वीकार है।<sup>128</sup> इस प्रकार भक्त अहंकार का त्याग कर प्रभु की शरण जाता है। आत्माभिमान अथवादंभ भक्ति-मार्ग का बहुत बड़ा कंटक है। यही कारण है कि भक्त दंभ अथवा मान का मर्षण करने के लिए सदैव प्रयत्नशील रहता है। भक्त यह जानता है कि ईश्वर के बिना उसका कोई नहीं है। इसलिए वह तो केवल भगवान् के 'दास' होने का 'अभिमान' कर सकता है। 'विनय-पत्रिका' के भक्त्यात्मक पदों में ऐसे बहुत-से पद हैं जिनमें हम तुलसीदास को मानमर्षता की भूमिका में विचरण करते हुए देखते हैं। तुलसीदास अपने आराध्य श्रीराम के चरणों में स्थान चाहते हैं अतः अपना अभिमान त्यागकर अपने प्रभु से प्रार्थना करते हैं कि हे भगवान् आप मुझे इस संसार सागर से पार उतारना तथा मुझ पर हमेशा दया बनाए रखना। निम्नांकित पद में तुलसीदास ने स्पष्टतया अपने निरभिमान रूप को उपस्थित किया है—

“काहे ते हरि मोहिं बिसारो ।

जानत निज महिमा मेरे अघ, तदपि न नाथ सँभारो ॥  
 पतित-पुनीत, दीनहित, असरन-सरन कहत श्रुति चारो ।  
 हौं नहिं अधम, सभीत, दीन? किधौं बेदन मृषा पुकारो? ॥  
 खग-गनिका-गज-ब्याध-पाँति जहँ तहँ हौँहूँ बैठारो ।  
 अब केहि लाज कृपानिधान! परसत पनवारो फारो ॥  
 जो कलिकाल प्रबल अति होतो, तुव निदेसतें न्यारो ॥  
 तौ हरि रोष भरोस दोष गुन तेहि भजते तजि गारो ॥  
 मसक बिरंचि, बिरंचि मसक सम, करहु प्रभाउ तुम्हारो ।  
 यह सामरथ अछत मोहिं त्यागहु, नाथ तहाँ कछु चारो ॥  
 नाहिन नरक परत मोकहँ डर, जद्यपि हौं अति हारो ।  
 यह बड़ि त्रास दासतुलसी प्रभु, नामहु पाप न जारो ॥<sup>129</sup>

अर्थात् हे हरे! आपने मुझे क्यों भुला दिया? हे नाथ! आप अपनी महिमा और मेरे पाप, इन दोनों को ही जानते हैं, तो भी मुझे क्यों नहीं सँभालते। आप पतितों को पवित्र करने वाले, दीनों के हितकारी और अशरण को शरण देने वाले हैं, चारों वेद ऐसा कहते हैं। तो क्या मैं नीच, भयभीत या दीन नहीं हूँ? अथवा क्या वेदों की यह

घोषणा ही झूठी है? (पहले तो) मुझे आपने पक्षी (जटायु गृध्र), गणिका (जीवन्ती), हाथी और व्याध (वाल्मीकि) की पंक्ति में बैठा लिया। यानी पापी स्वीकार कर लिया। अब हे कृपानिधान! आप किसकी शर्म करके मेरी परसी हुई पत्तल फाड़ रहे हैं। यदि कलिकाल आपसे अधिक बलवान् होता और आपकी आज्ञा न मानता होता, तो हे हरे! हम आपका भरोसा और गुणगान छोड़कर तथा उस पर क्रोध करने और दोष लगाने का झंझट त्याग कर उसी का भजन करते। (परन्तु) आप तो मामूली मच्छर को ब्रह्मा और ब्रह्मा को मच्छर के समान बना सकते हैं, ऐसा आपका प्रताप है। यह सामर्थ्य होते हुए भी आप मुझे त्याग रहे हैं, तब हे नाथ! मेरा फिर वश ही क्या है? यद्यपि मैं सब प्रकार से हार चुका हूँ और मुझे नरक में गिरने का भी भय नहीं है, परन्तु मुझ तुलसीदास को यही सबसे बड़ा दुःख है कि प्रभु के नाम ने भी मेरे पापों को भस्म नहीं किया।

“तऊ न मेरे अघ—अवगुन गनिहैं।

जौ जमराज काज सब परिहरि, इहै ख्याल उर अनिहैं ॥

चलिहैं छूटि पुंज पापिन के, असमंजस जिय जनिहैं।

देखि खलल अधिकार प्रभुसों (मेरी) भूरि भलाई भनिहैं ॥

हँसि करिहैं परतीति भगतकी भगत—सिरोमनि मनिहैं।

ज्यों—त्यों तुलसिदास कोसलपति अपनायेहि पर बनिहैं ॥<sup>130</sup>

अर्थात् हे श्रीरामजी! यदि यमराज सब कामकाज छोड़कर केवल मेरे ही पापों और दोषों के हिसाब—किताब का खयाल करने लगेंगे, तब भी उनको गिन नहीं सकेंगे (क्योंकि मेरे पापों की कोई सीमा नहीं है)। (और जब वह मेरे हिसाब में लग जायँगे, तब उन्हें इधर उलझे हुए समझकर) पापियों के दल—के दल छूटकर भाग जायँगे। इससे उनके मन में बड़ी चिन्ता होगी। (मेरे कारण से) अपने अधिकार में बाधा पहुँचते देखकर (भगवान् के दरबार में अपने को निर्दोष साबित करने के लिये) वह आपके सामने मेरी बहुत बड़ाई कर देंगे (कहेंगे कि तुलसीदास आपका भक्त है, इसने कोई पाप नहीं किया, आपके भजन के प्रताप से इसने दूसरे पापियों को भी पाप के बन्धन से छुड़ा दिया)। तब आप हँसकर अपने भक्त यमराज का विश्वास कर लेंगे और मुझे भक्तों में शिरोमणि मान लेंगे। बात यह है कि हे कोसलेश! जैसे—तैसे आपको मुझे अपनाना ही पड़ेगा।

“जौ पै जिय धरिहौ अवगुन जनके ।

तौ क्यों कटत सुकृत-नखते मो पै, बिपुल बृंद अघ-बनके ॥

कहिहै कौन कलुष मेरे कृत, करम बचन अरु मनके ।

हारहिं अमित सेष सारद श्रुति, गिनत एक-एक छनके ॥

जो चित चढ़ै नाम-महिमा निज, गुनगन पावन पनके ।

तो तुलसिहिं तारिहौ बिप्र ज्यों दसन तोरि जमगनके ॥”<sup>131</sup>

अर्थात् हे नाथ! यदि आप इस दास के दोषों पर ध्यान देंगे, तब तो पुण्यरूपी नखसे पापरूपी बड़े-बड़े वनों के समूह मुझसे कैसे कटेंगे? (मेरे जरा-से पुण्य से भारी-भारी पाप कैसे दूर होंगे?) मन, वचन और शरीर से किये हुए मेरे पापों का वर्णन भी कौन कर सकता है? एक-एक क्षण के पापों का हिसाब जोड़ने में अनेक शेष, सरस्वती, और वेद हार जायेंगे। (मेरे पुण्यों के भरोसे तो पापों से छूटकर उद्धार होना असम्भव है) यदि आपके मन में अपने नाम की महिमा और पतितों को पावन करने वाले अपने गुणों का स्मरण आ जाय तो आप इस तुलसीदास को यमदूतों के दाँत तोड़कर संसार-सागर से अवश्य वैसे ही तार देंगे, जैसे अजामिल ब्राहमण को तार दिया था। इस प्रकार तुलसीदास अपने आराध्य से प्रार्थना करते हैं कि हे भगवन्! आप मेरी सारी विपत्तियों का नाश करके मुझे इस असार संसार से अवश्य वैसे ही तार देंगे, जैसे अजामिल ब्राहमण को तार दिया था। तुलसीदास अपने आराध्य की महिमा का गान करते हुए बार-बार उनसे अपने कल्याण अर्थात् सांसारिक कष्टों से मुक्त होने की बात करते हैं। अपने प्रभु से प्रार्थना करते हैं कि वे उसके अवगुणों की ओर ध्यान न देकर उसका उद्धार कर दें, क्योंकि मेरे पुण्य नगण्य हैं और उनके प्रभाव से भारी पाप नष्ट नहीं हो सकते हैं। अतः मैं तो केवल आपके नाम का स्मरण करता हूँ, क्योंकि कलियुग में हरि-नाम स्मरण करने के अतिरिक्त प्राणी के उद्धार का और कोई उपाय नहीं है। मनुष्य को अहंकार त्याग कर केवल हरि-नाम का स्मरण करने का संदेश देते हैं।

“नाथ सों कौन बिनती कहि सुनावौं ।

त्रिबिध बिधि अमित अवलोकि अघ आपने,

सरन सनमुख होत सकुचि सिर नावौं ॥

बिरचि हरिभगति को बेष बर टाटिका,

कपट—दल हरित पल्लवनि छावौं ।  
 नामलगि लाइ लासा ललित—बचन कहि,  
 ब्याध ज्यों बिषय—बिहुँगनि बझावौं ।।  
 कुटिल सतकोटि मेरे रोम पर वारियहि,  
 साधु गनती में पहलेहि गनावौं ।  
 परम बर्बर खर्ब गर्ब—पर्बत चढ्यो,  
 अग्य सर्बग्य, जन—मनि जनावौं ।।  
 साँच किधौं झूठ मोको कहत कोउ—  
 कोउ राम! रावरो, हौं तुम्हरो कहावौं ।  
 बिरद की लाज करि दास तुलसिहिं देव!  
 लेहु अपनाइ अब देहु जनि बावौं ।।<sup>132</sup>

अर्थात् हे प्रभो! आपको मैं किस तरह विनती कहकर सुनाऊँ? तीन तरह के (मन, वचन और कर्म से उत्पन्न) अपरिमित प्रकारों से किये जाने वाले अपने पापों की ओर देखकर जब मैं आपके शरण में सम्मुख आना चाहता हूँ तब संकोच के मारे सिर नीचा हो जाता है। भगवद्भक्तों का भेष बनाकर मानो सुन्दर (धोखे की) टट्टी बनाता हूँ और कपटरूपी हरे-हरे पत्तों से उसे छा देता हूँ। आपके (राम) नाम की लगी लगाकर, मधुर वचनों का लासा लगा देता हूँ! और फिर बहेलिये की भाँति विषय—रूपी पक्षियों को फाँस लेता हूँ। (लोगों की दृष्टिमें तिलक, माला, कण्ठी, राम—नाम के गुणगान करने वाला और मधुर वाणी बोलने वाला महात्मा भक्त बना फिरता हूँ, परन्तु मन—ही—मन विषयों का चिन्तन करता हुआ उन्हीं की ताक में लगा रहता हूँ)। मैं इतना बड़ा पापी हूँ कि मेरे एक रोमपर सौ करोड़ पापी निछावर किये जा सकते हैं, पर तो भी अपने को संतों की गिनती में सबसे पहले गिनवाना चाहता हूँ, संत—शिरोमणि बनने का दावा रखता हूँ। मैं बड़ा ही असभ्य और नीच हूँ, परन्तु घमण्ड—रूपी पहाड़ पर चढ़ा बैठा हूँ। इसी से तो मूर्ख होने पर भी अपने को सर्वज्ञ और भक्तश्रेष्ठ बतलाता हूँ। हे भगवन्! कह नहीं सकता कि झूठ है या सच, पर कोई—कोई मेरे लिये यह कहते हैं कि यह रामजी का है और मैं भी आप ही का कहलाया चाहता हूँ। हे देव! इससे अब अपने बाने की लाज रखकर इस तुलसीदास को अपना ही लीजिये (क्योंकि जब आपका कहलाकर भी दुष्ट ही रहूँगा तो आपके



विरद की लाज कैसे रहेगी?) अब टालमटोल न कीजिये।" इस प्रकार तुलसीदास आत्म-भर्त्सना करते हुए अपने प्रभु से कहते हैं कि हे प्रभु! मैं जब अपने तीनों प्रकार के अर्थात् मनसा, वाचा और कर्मणा किए जाने वाले पापों की ओर देखता हूँ तो यह सोच कर संकुचित हो उठता हूँ कि आप से क्या मुँह लेकर प्रार्थना करूँ। जैसे ही मैं आपसे शरण प्रदान करने का निवेदन करना चाहता हूँ कि मेरा सिर लज्जावश स्वतः झुक जाता है, क्योंकि एक तरफ तो मैं राम-भक्त कहलाना चाहता हूँ और दूसरी ओर सांसारिक विषय-वासनाओं में लिप्त रहता हूँ। इस प्रकार मेरी कथनी और करनी में रात-दिन का अंतर है। फिर भी मैं अभिमान त्याग कर आपकी शरण में आया हूँ। आप अपने बाने की लाज रखते हुए मुझे अपना लीजिए।

**भर्त्सना:**— मन बहुत शक्तिशाली होता है। दुर्वृत्तियों की ओर उसका सहज आकर्षण होता है। सद्वृत्तियों की अपेक्षा दुर्वृत्तियों में उसकी अधिक रुचि रहती है। यही कारण है कि भय दिखलाने पर भी मन इन्द्रिय-सुख का लोभ नहीं छोड़ पाता। इस स्थिति में भक्त उसे डाँटता है। इस प्रकार विषयासक्त मन को सन्मार्ग अर्थात् प्रभु-भक्ति अथवा राम-भक्ति के राजपथ पर चलाने के लिए डाँटना-फटकारना ही भर्त्सना है। 'भर्त्सना' शब्द का अर्थ है— "भर्त्सनम्, भर्त्सना, भर्त्सितम् (भर्त्स+ल्युट्+स्त्रियां टाप्, क्त वा) 1) धमकाना, घुड़कना 2) धमकी झिड़की, 3) बुरा-भला कहना, गाली देना, 4) अभिशाप।"<sup>133</sup> इस प्रकार तुलसी ने अपने मन की भर्त्सना की है। विनय-पत्रिका में तुलसी ने अनेक पदों में अपने मन को डाँट-डपट कर प्रभु के चरणों में लगने को कहा है। इस प्रकार भक्त अपने मन को डाँट-फटकार कर प्रभु की ओर उन्मुख करता है। मन को इस अवस्था में पहुँचाये बिना आत्म-निवेदन हो ही नहीं सकता; जैसे —

"रे मन मूरख, जनम गँवायौ ।  
करि अभिमान विषय-रस गीध्यौ  
स्याम-सरन नहिँ आयौ ।  
यह संसार सुवा-सेमर जयौ  
सुंदर देखि लुभायौ ।  
चाखन लाग्यौ रुई गई उड़ि हाथ कछू नहिँ आयौ ।

कहा होत अब पछिताएँ पहिलै पाप कमायौ ।

कहत सूर भगवंत—भजन बिनु, सिर धुनि—धुनि पछितायौ ।।<sup>134</sup>

अर्थात् हे मूर्ख मन! तूने जन्म गँवा दिया। अभिमान के वशीभूत हो, तू विषयादिक में गिद्ध के समान लग गया है पर श्याम सुन्दर की शरण में नहीं आया। तोते को जैसा सेमर (लगता) है, तू इस सुन्दर संसार को देखकर तू मुग्ध हो गया है। तोता जब सेमर चखने लगा तो रुई उड़ गई और उसके हाथ में कुछ भी नहीं आया। पहले पाप करके बाद में पश्चाताप करने से क्या होता है? सूरदास कहते हैं कि भगवान् के भजन के बिना सिर पीट—पीटकर तू पछताता है। इसी प्रकार का एक और उदहारण निम्न है—

“(मन) राम—नाम —सुमिरन बिनु बादि जनम खोयौ ।

रंचक सुख कारन तैं अंत क्यों बिगोयौ ।

साधु—संग, भक्ति बिना, तन अकार्य जाई ।

ज्वारी ज्यौं हाथ झारि, चालै छुटकाई ।

दारा—सुत, देह—गेह संपत्ति सुखदाई ।

इनमैं कछू नाहिँ तेरौ, काल—अवधि आई ।

काम—क्रोध—लोभ—मोह—तृष्णा मन मोयौ ।

गोबिंद—गुन चित बिसारि, कौन नींद सोयौ ।

सूर कहै चित बिचारि, भूल्यौ भ्रम अंधा ।

राम—नाम भजि लै, तजि और सकल धंधा ।।<sup>135</sup>

अर्थात् हे मन! तूने, राम नाम के स्मरण के बिना व्यर्थ में ही जीवन नष्ट कर दिया। थोड़े से सुखों के लिए तूने अपना अंत क्यों बेकार कर दिया? साधुओं के संग तथा ईश्वर की भक्ति के बिना तेरा शरीर व्यर्थ रहेगा। तुझे जुआरी की तरह हाथ झाड़ कर चल देना होगा। पत्नी, पुत्र, शरीर, घर तथा संपत्ति सुख देनेवाले हैं, परन्तु काल आने पर इन सबमें तेरा कुछ भी नहीं रहेगा। काम, क्रोध, लोभ, मोह तथा तृष्णा आदि ने तेरा मन मोह लिया है। तू हृदय से गोविंद को भुलाकर किस नींद में सोया है? सूरदास कहते हैं कि मन में सोच; तू अंधा होकर भ्रम में भूला पड़ा है। अन्य सब धन्धों को छोड़ राम नाम का भजन कर।” इस प्रकार सूरदास अपने मन को फटकारते हुए कहते हैं कि हे मन! तू सब धन्धों को छोड़ राम नाम का भजन

कर। क्योंकि यह राम नाम ही तुझे भवसागर से पार लगायेगा अन्य किसी में इतनी सामर्थ्य नहीं हैं क्योंकि राम ही समर्थ हैं। कबीर भी 'राम' को ही अपने जीवन का आधार मानते हैं तथा कहते हैं कि—

“नरपछिताहुगे अंधा।

चेति देखि नर जमपुरि जैहै, क्यूं बिसरौ गोब्यंदा ॥  
 गरभ कुंडिनल जब तूं बसता, उरध ध्यांन ल्यौ लाया।  
 उरध ध्यांन मृत मंडलि आया, नरहरि नांव भुलाया ॥  
 बाल बिनोद छहूं रस भीनां, छिन छिन मोह बियापै।  
 विष अमृत पहिचानन लागौ, पांच भांति रस चाखै ॥  
 तरन तेज पर त्रिय मुख जोवै, सर अपसर नहीं जानैं।  
 अति उदमादि महामद मातौ, पाप पुंनि न पिछानैं ॥  
 प्यंडर केस कुसुम भये धौंला, सेत पलटि गई बांनी।  
 गया क्रोध मन भया जु पावस, कांम पियास मंदांनी ॥  
 तूटी गांठि दया धरम उपज्या, काया कबल कुमिलांनां।  
 मरती बेर बिसूरन लागौ, फिरि पीछैं पछितांनां ॥  
 कहै कबीर सुनहुं रे संतौ, धन माया कछू संगि न गया।  
 आई तलब गोपाल राइ की, धरती सैन भया ॥<sup>136</sup>

अर्थात् “हे अज्ञानांध मनुष्य! सावधान हो जा, अन्यथा यमपुर जाते समय पछतायेगा, इसीलिए प्रभु को विस्मृत मत कर। जब तू गर्भवास में उल्टा लटका हुआ दारुण दुख भोगता था, तब प्रभु का भजन करता था किन्तु अब बाहर आने पर तू ईश्वर को विस्मृत कर बैठा। अब तो छहों रस से पूर्ण बाल—क्रीड़ाओं में आनन्दित हो प्रतिपल मोह बंधन में पड़ता जाता है। स्वाद की दृष्टि से अब तू कटु और मधुर को पहचानने लगा है, पाँच प्रकार के भोजनों का रस प्राप्त करता है सुखसय्या पर अवसर—कुअवसर प्रत्येक समय पत्नी के साथ रति—क्रीड़ा में संलग्न रहता है। इस प्रकार मद में अन्धा पाप—पुण्य का विभेद भी भुला बैठा है। किन्तु अब वृद्धावस्था आने पर वे सुन्दर केश श्वेत हो गये और वाणी भी लड़खड़ाने लगी। अब क्रोध भी चला गया है और मन वर्षा के समान आर्द्र हो उठा है। काम—पिपासा अब मिट चुकी है। गर्व—गांठ के टूट जाने पर अब दया—धर्म जैसे गुणों की उद्भावना हुई है

क्योंकि शरीर रूपी कमल मुरझा गया है। मृत्यु समय के दुःखों को और स्मरण कर ले क्योंकि फिर तो पश्चाताप के अतिरिक्त और कुछ हाथ ही नहीं लगेगा। कबीर कहते हैं कि हे संत-गण! मनुष्य के साथ मृत्युपरान्त धन सम्पत्ति, माया आदि कुछ भी नहीं जाता। जब प्रभु की इच्छा होती है तो वह धरती को ही शय्या में परिवर्तित कर देता है, मृत्यु बुला देता है। इसलिए कबीरदास कहते हैं कि मनुष्य को हर समय ईश्वर का ध्यान करना चाहिए। क्योंकि भक्ति करने से मनुष्य की सांसारिक आसक्ति नष्ट हो जाती है तथा ईश्वर में आसक्ति होने लगती है। भक्ति का बीज बाल्य अवस्था में बो देने पर वृद्धावस्था में सुन्दर फल लग कर जीवन महकने लगता है तथा सम्पूर्ण जीवन ईश्वर की अनुकंपा से आनन्दमय हो जाता है। भक्ति में निमग्न व्यक्ति का जीवन खुशियों से सरोबार हो जाता है। जो कार्य व्यक्ति अपने कर्मों से नहीं कर सकता वही कार्य प्रभु पलक-झपकते ही अपने आप कर देते हैं। भक्त के सारथी बन कर भगवान् स्वयं उसके जीवन रूपी रथ हो हाँकते हैं। इस प्रकार भगवान की शरण पाकर भक्त निहाल हो जाता है। अतः कबीरदास लिखते हैं कि समय रहते मनुष्य को चेत (जाग) जाना चाहिए अन्यथा पछताने से क्या लाभ। जब व्यक्ति वृद्धावस्था में आकर ईश्वर को याद करने लगेगा तो अवस्था भी साथ नहीं देगी तथा सम्पूर्ण जीवन सांसारिक आकर्षणों में बिताने से जीवन में दुख-ही-दुख रहेंगे क्योंकि संसार से मिलने वाली सभी वस्तुएँ अपूर्ण हैं तो फिर मिलने वाला सुख पूर्ण कैसे होगा? अतः समय रहते हरि का भजन करना चाहिए क्योंकि केवल हरि ही पूर्ण हैं, सत्य हैं, सर्वव्यापक हैं तो उनसे मिलने वाला सुख भी अर्थात् भगवद् भक्ति से मिलने वाला सुख भी शास्वत होगा। तुलसीदास जी लिखते हैं कि मनुष्य जीवन हरि भक्ति में ही व्यतीत करना चाहिए और जो व्यक्ति हरि भक्ति नहीं करता वो मनुष्य जन्म पाकर भी नरक का भागी है—

“ते नर नरकरूप जीवत जग भव-भंजन-पद-बिमुख अभागी।

निसिबासर रुचिपाप असुचिमन, खलमति-मलिन, निगमपथ-त्यागी ॥

नहिं सत्संग भजन नहिं हरिको, स्त्रवन न राम-कथा-अनुरागी।

सत-बित-दार-भवन-ममता-निसि सोवत अति, न कबहुँ मति जागी ॥

तुलसिदास हरिनाम-सुधा तजि, सठ हठि पियत बिषय-बिष माँगी।

सूकर-स्वान-सृगाल-सरिस जन, जनमत जगत जननि-दुख लागी ॥<sup>137</sup>

अर्थात् वे अभागे मनुष्य संसार में नरक रूप होकर जी रहे हैं, जो जन्म-मरणरूप भवका भंजन करनेवाले श्रीभगवान् के चरणों से विमुख हैं। उनकी रुचि रात-दिन पापों में ही लगी रहती है। उनका मन अशुद्ध रहता है। उन दुष्टों की बुद्धि मलिन रहती है, और वे वेदोक्त मार्ग को छोड़े हुए हैं न तो वे संतो का संग ही करते हैं, न भगवद्भजन करते हैं और न उनके कानों को श्रीरामकी कथा प्यारी लगती है। वे तो बस, सदा-सर्वदा स्त्री-पुत्र-धन और मकान आदिकी ममतारूपी रात्रि में ही अचेत सोते रहते हैं उनकी बुद्धि (इस 'मेरे-मेरे' की निद्रा से) कभी जागती ही नहीं। हे तुलसीदास! जो दृष्ट श्रीहरि-नाम-रूपी-अमृत को छोड़कर हठपूर्वक विषयरूपी जहर माँग-माँगकर (धन-पुत्र आदि की कामना करके) पीते हैं, वे मनुष्य सूअर, कुत्ते और गीदड़ के समान जगत् में केवल अपनी माँ को दुःख देने के लिये ही जन्म लेते हैं। इस प्रकार तुलसीदास लिखते हैं कि मनुष्य को उसी वस्तु की कामना करनी चाहिए जो पूर्ण है, अपूर्ण की कामना व्यर्थ है। यह संसार अपूर्ण है। यहाँ से मिलने वाली सभी वस्तुएँ (पुत्र, धन, परिवार, स्त्री.....) अपूर्ण हैं; अतः दुख का कारण है। तुलसीदास मनुष्य को केवल भगवद् भजन करने का उपदेश देते हैं क्योंकि इस सृष्टि में केवल हरि ही पूर्ण हैं और सुखों की खानी है। अतः मनुष्य को हर समय ईश्वर का स्मरण करते रहना चाहिए। मन को समझाते हुए तुलसीदास लिखते हैं –

“ऐसी मूर्खता या मनकी।

परिहरि राम-भगति-सुरसरिता, आस करत ओसकनकी ॥

धूम-समूह निरखि चातक ज्यों, तृषित जानि मति घनकी।

नहिं तहँ सीतलता न बारि, पुनि हानि होति लोचनकी ॥

ज्यों गच-काँच बिलोकि सेन जड़ छाँह आपने तनकी।

टूटत अति आतुर अहार बस, छति बिसारि आननकी ॥

कहँ लौं कहौं कुचाल कृपानिधि ! जानत हौ गति जनकी।

तुलसीदास प्रभु हरहु दुसह दुख, करहु लाज निज पनकी ॥<sup>138</sup>

अर्थात् इस मन की ऐसी मूर्खता है कि यह श्रीराम भक्तिरूपी गंगाजी को छोड़कर ओसकी बूँदों से तृप्त होने की आशा करता है। जैसे प्यासा पपीहा धुएँ का गोठ देखकर उसे मेघ समझ लेता है, परन्तु वहाँ (जाने पर) न तो उसे शीतलता मिलती है और न जल मिलता है, धुएँ से आँखें और फूट जाती हैं (यही दशा इस मन की

है)। जैसे मूर्ख बाज काँच की फर्श में अपने ही शरीर की परछाईं देखकर उस पर चोंच मारने से वह टूट जायगी इस बात को भूख के मारे भूलकर जल्दी से उस पर टूट पड़ता है। (वैसे ही यह मेरा मन भी विषयों पर टूट पड़ता है)। हे कृपा के भण्डार! इस कुचाल का मैं कहाँ तक वर्णन करूँ? आप तो दासों की दशा जानते ही हैं। हे स्वामिन्! तुलसीदास का दारुण दुःख हर लीजिये और अपने (शरणागत—वत्सलतारूपी) प्रण की रक्षा कीजिये। इस प्रकार तुलसीदास लिखते हैं कि मनुष्य को इस संसार से जो सुख मिलते हैं वे क्षणिक है। मनुष्य एक क्षण सुखी होता है तो दूसरे ही क्षण दुखी हो जाता है क्योंकि मिलने वाला सुख नश्वर है। यह संसार नश्वर है, केवल ईश्वर सत्य हैं, सर्वशक्तिमान हैं तथा हरिभक्ति से मिलने वाला सुख शाश्वत हैं अतः तुलसीदास अपने आराध्य से प्रार्थना करते हैं कि हे प्रभु आप मेरी सांसारिक आसक्ति को नष्ट कर प्रभु—चरणों में स्थान दीजिए ताकि मैं इस असार संसार से आसानी से तर सकूँ। अपने मन को समझाते हुए लिखते हैं कि —

“मन मेरे, मानहि सिख मेरी। जो निजु भगति चहै हरि करी।।

उर आनहि प्रभु—कृत हित जेते। सेवहि ते जे अपनपौ चेतें।।

दुख—सुख अरु अपमान—बड़ाई। सब सम लेखहि बिपति बिहाई।।

सुनु सठ काल—ग्रसित यह देही। जनि तेहि लागि बिदूषहि केही।।

तुलसीदास बिनु असि मति आये। मिलहिं न राम कपट लौ लाये।।<sup>139</sup>

अर्थात् हे मेरे मन! यदि तू अपने हृदय में भगवान् की शक्ति चाहता है, तो मेरी सीख मान। भगवान् ने (गर्भवास से लेकर अब तक) तेरे ऊपर जो (अपार) उपकार किये हैं उनको याद कर, और अहंकार छोड़कर, बड़ी सावधानी से तत्पर होकर उनकी सेवा कर। सुख—दुःख, मान—अपमान, सबको समान समझ तभी तेरी विपत्ति दूर होगी। अरे दुष्ट! इस शरीर को तो कालने ग्रस ही रखा है, इसके लिये किसीको दोष मत दे। तुलसीदास कहते हैं कि ऐसी बुद्धि हुए बिना, केवल कपट—समाधि लगाने से श्रीरामजी कभी नहीं मिलते, वे तो सच्चे प्रेम से ही मिलते हैं। इस प्रकार तुलसीदास प्राणी मात्र को समझाते हुए लिखते हैं कि अंत समय आने के बाद पछताना पड़ता है, अतः समय रहते भगवद् भजन में लीन हो जाना चाहिए क्योंकि केवल एक राम—नाम ही मनुष्य को घोर—से—घोर संकट में भी पार

लगा सकते हैं। अतः मनुष्य को अपनी इन्द्रियों पर का उत्कट प्रेम एकत्रित करके केवल अपने आराध्य श्री राम को अर्पण कर देना चाहिए।

**भयदर्शन:**—भक्त स्वयावतः मन को ईश्वरोन्मुख करना चाहता है। किन्तु मन अपनी सहज प्रवृत्ति के अनुसार विषय वासनोन्मुख होता है। जब शक्तिशाली मन सीधे—सीधे भक्ति में नहीं रमता तब उसे भय दिखलाया जाता है। यही भयदर्शन है। भक्त मन को इन्द्रिय—सुख की ओर जाने से रोकने के लिए भय दिखलाता है। भगवान् के प्रतिकूल—चलने के कारण अर्थात् माया—मोह में फँसने के कारण होने वाली बुराइयों का भय दिखाकर मन को भगवान् की ओर उन्मुख करना। यही भय—दर्शन है। इस प्रकार भयावह वस्तुओं और दृश्यों के दर्शन करके अथवा अपने संमुख भय उपस्थित देखकर भक्त प्रभु की शरण जाता है और अपनी भयभीत परिस्थिति निवेदन करता है; जैसे —

“अब कैँ राखि लेहु भगवान ।

हाँ अनाथ बैठयौ द्रुम डरिया, पारधि साधे बान ।

ताकैँ डर मैं भाज्यौ चाहत, ऊपर दुक्यौ सचान ।

दुहँ भाँति दुख भयौ आनि यह, कौन उबारै प्रान?

सुमिरत ही अहि डस्यौ पारधी, कर छूटयौ संधान ।

सूरदास सर लग्यौ सचानहिँ जय—जय कृपानिधान ।।”<sup>140</sup>

अर्थात् “हे प्रभु, इस बार मेरी रक्षा करो। मैं अनाथ वृक्ष की डाल पर बैठा हूँ, (मुझ पर) शिकारी ने बाण का निशाना लगाया है। उससे भयभीत होकर जब मैं भागना चाहता हूँ, तो ऊपर से बाज (झपटने के लिए) तैयार है। दोनों प्रकार से वह दुःख आ पड़ा है। (अब मेरी) प्राण—रक्षा कौन करे! (पक्षी के) प्रभु का स्मरण करते ही शिकारी को सर्प ने काट खाया। उसके हाथ से बाण छूटकर बाज के जा लगा। सूरदास कहते हैं कि (बहेलिया और बाज दोनों मर गये और मेरे प्राण बच गए)—ऐसे कृपा—निधान की जय—जय हो।”<sup>141</sup> इस प्रकार भक्त को अपने आराध्य पर पूर्ण विश्वास होता है। इसका कारण विषय सुख को प्राप्त करने के लिए कटिबद्ध शक्तिशाली मन को अनेकानेक प्रकार के भय दिखला कर प्रभु—भक्ति में मन को केन्द्रित करना ही भक्त का लक्ष्य होता है। क्योंकि भक्त संसार की असारता को जानता है। उसे पता है कि यह मन जिन विषयों में रत है वे क्षणभंगुर है तथा

केवल एक ईश्वर ही सत्य हैं। इसलिए मन को सांसारिकता से हटाकर ईश्वर में लगाता है। कबीर भी अपने मन को समझा कर कहते हैं कि—

“जपि जपि रे जीयरा गोब्यंदो, हित चित परमानंदौ रे।  
बिरही जन कौ बाल हौं, सब सुख आनंदकंदो रे॥  
धन धन झीखत धन गयो, सो धन मिल्यौं न आये रे।  
ज्युं बन फूली मालती, जन्म अबिरथा जाये रे॥  
प्रांणी प्रीति न कीजिये, इहि झूठें संसारो रे।  
धूवां केरा धौलहर, जात न लागै बारो रे॥  
माटी केरा पूतला, काहे गरब कराये रे।  
दिवस चारि कौ पेखनौं। फिरि माटी मिलि जाये रे॥  
कामीं राम न भावई, भावैं विषै बिकारो रे।  
लोह नाव पाहन भरी, बूडत, नाहिं बारो रै।  
नां मन मूवा न मरि सक्या, नां हरि भजि उत्ज्यापारो रे।  
कबीरा कंचन गहि रह्यौ, कांच गहै संसारो रे॥”<sup>142</sup>

अर्थात् “हे मन! तू हृदय को अमित आनन्द प्रदान करने वाले प्रभु नाम का स्मरण कर। समस्त सुखों की खान वे प्रभु अपने भक्तों के एकमात्र आधार हैं। सांसारिक धन के संचय में ही परमात्मा रूपी अमूल्य धन खो दिया जो पुनः कभी भी नहीं मिल सकता। जिस भाँति वन में फूली मालती का जन्म—वृथा ही बीत जाता है, वहाँ कोई रसपान करने वाला भौरा नहीं होता उसी भाँति संसार से प्रीति—सम्बन्ध बनाना अच्छा नहीं, क्योंकि जगत् मिथ्या है। यह संसार तो धुएं के महल सदृश है जिसके नष्ट होते देर नहीं लगती। इस मिट्टी के पुतले शरीर के लिए गर्व करना व्यर्थ है। कामी पुरुष को प्रभु नाम प्रिय न होकर विषयानन्द प्रिय होते हैं। एक तो गर्व दूसरे काम—पिपासा रूपी लोहे की पत्थर—भरी नाव को डूबने में समय भी नहीं लगता। न तो मन की चंचलता ही समाप्त हो सकी और न मृत्यु ही आई और न प्रभु—भजन कर संसार से मुक्ति का कार्य किया। कबीर कहते हैं कि हे मनुष्य! तुम प्रभु स्वरूप कंचन को पकड़े रहो संसार तो विषयानन्दों के कांच को पकड़ने में ही मस्त हैं।”<sup>143</sup>

इस प्रकार कबीर अपने मन को अनेक प्रकार से डराकर भगवान् राम की शरण में जाने का आग्रह कर रहे हैं क्योंकि भगवान् राम ही हमारे जीवन के आधार हैं, वही



सत्य है, वही सच्ची भक्ति है भगवान् की शरण में जाने पर व्यक्ति निश्चिन्त हो जाता है—

“राम कहत चलु, राम कहत चलु, राम कहत चलु भाई रे।  
नाहिं तौ भव—बेगारि महुँ परिहै, छुटत अति कठिनाई रे।।  
बाँस पुरान साज सब अठकठ, सरल तिकोन खटोला रे।  
हमहिं दिहल करि कुटिल करमचँद मंद गोल बिनु डोला रे।।  
बिषम कहार मार—मद—माते चलहिं न पाउँ बटोरा रे।  
मंद बिलंद अमेरा दलकन पाइय दुख झकझोरा रे।।  
काँट कुराय लपेटन लोटन ठावहिं ठाउँ बझाऊ रे।  
जस जस चलिय दूरि तस तस निज बास न भेंट लगाऊ रे।।  
मारग अगम, संग नहिं संबल, नाउँ गाउँकर भूला रे।  
तुलसीदास भव त्रास हरहु अब, होहु राम अनुकूला रे।।”<sup>144</sup>

अर्थात् अरे भाई! राम—राम, राम—राम कहते चलो, नहीं तो कहीं संसार की बेगार में पकड़े जाओगे तो फिर छूटना अत्यन्त कठिन हो जायगा। (राजाकी बेगारसे दो—चार दिनों में छूटा जा सकता है पर संसार का जन्म—मरण का चक्र तो ज्ञान न होने तक सदा चलता ही रहेगा। यदि राम—राम जपता चला जायगा, तो मायाजन्य विषयरूपी शत्रु तुझे बेगारमें न पकड़ सकेंगे। क्योंकि रामके दास पर राम की माया नहीं चलती। कुटिल कर्मचन्दन ने (हमारे पूर्व—जन्मकृत पाप—कर्मों के पारध ने) बिना ही मोलके (संसार—चक्र की कर्मानुसार स्वाभाविक गति के अनुसार) ऐसा बुरा खटोला (भजनहीन तामसप्रधान मनुष्य—शरीर) हमें दिया है कि जिसके पुराना तो बाँस (अनादिकालीन अविद्या—मोह) लगा है, जिसके साज सब अंटसंट हैं, चित्तकी तामस विषयाकार वृत्तियाँ हैं, (जिनके कारण शरीर से बुरे कर्म होते हैं— मनुष्य कुमार्ग में जाता है) जो सीधा तिकोन है (केवल अर्थ, काम और सकाम धर्मकी प्राप्ति में ही लगा हुआ है, जिसे मोक्ष का ध्यान ही नहीं है)। जिसके (उठाकर चलनेवाले) कहार विषम हैं और कामके मदमें मतवाले हो रहे हैं (शरीर को चलाने वाली पाँच इन्द्रियाँ हैं, कहारों की जोड़ी होनी चाहिये, पाँच होने से जोड़ी नहीं है इसलिये विषम हैं, एक—से नहीं हैं और पाँचो ही इन्द्रियाँ विषय—भोगों के पीछे मतवाली हो रही हैं। कुकर्माँ के कारण जब शरीर और मन ही तामस विषयाकार हैं, तब इन्द्रियाँ

विषयों से हटी हुई कैसे हों?) और वे पाँव बटोरकर—समान पैर रखकर नहीं चलते। (इन्द्रियाँ अपने—अपने विषयों की ओर दौड़ती हैं) इससे कभी ऊँचे, कभी नीचे चलने से धक्के और झटके लग रहे हैं, इस खींचतानमें बड़ा ही दुःख हो रहा है। (कभी स्वर्ग या कीर्ति आदि की इच्छा से धर्म—कार्यमें कभी भोगों की प्राप्ति के लिए संसार के विविध व्यवसायों में, कभी कामवश होकर स्त्रियों के पीछे। सो भी समानभावसे नहीं—शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध इन अपने—अपने विषयों द्वारा कभी ऊँचे और कभी नीचे जाती हैं, फलस्वरूप जीव महान् क्लेश पाता है)। रास्ते में काँटे बिछे हैं, कंकड़ पड़े हैं, (विषैली बेलें लपेटती हैं और झाड़ियाँ उलझा लेती हैं, इस प्रकार जगह—जगह रूकना पड़ता है। परमात्मा को भुलाकर सांसारिक विषयों के घने जंगलमें दौड़ने वाली इन्द्रियों के विषय—नाशरूपी काँटे प्रतिकूल विषयरूपी कंकड़, घर—परिवार की ममतारूपी लपेटने वाली बेलें और कामनारूपी उलझन हैं, जिनसे पद—पदपर रूककर दुःख भोगते हुए चलना पड़ता है।) फिर ज्यों ज्यों आगे बढ़ते हैं त्यों—ही—त्यों अपना घर दूर होता चला जा रहा है। (संसार के भोगों में ज्यों—ज्यों मन फँसता है त्यों—ही—त्यों भगवत्—प्राप्तिरूप निज—निकेतन दूर होता जाता है) और कोई राह बताने वाला भी नहीं है। (विषयी पुरुष संतो का संग ही नहीं करते, फिर उन्हें सीधा परमार्थ का रास्ता कौन बतावे? संगवाले तो उलटा ही मार्ग बतलाते हैं) मार्ग बड़ा कठिन है, (विषयों के झाड़—झंखाड़ों और पहाड़—जंगलों से परिपूर्ण है) साथ में (भजनरूपी) राह—खर्च नहीं है, यहां तक कि अपने गाँव का नाम तक भूल गये हैं (भूलकर भी परमात्मा को नाम नहीं लेते और परमात्म—स्वरूप पर विचार नहीं करते, अतएव भगवान् की कृपा बिना इस शरीर के द्वारा तो परमपदरूपी घर पहुँचना असम्भव ही है); इसलिये हे श्रीरामजी! अब आप ही कृपा करके इस तुलसीदास के (जन्म मरणरूपी) संसार—भय को दूर कीजिये। इस प्रकार तुलसीदास लिखते हैं कि संसार—सागर विपत्तियों का आलय है। श्रीराम की कृपा ही इस संसार से मुक्त करा सकती है। जगवासियों को प्रबोधित करते हुए तुलसीदास बतलाते हैं कि अरे भाई राम—राम, राम—राम जपते रहो, अन्यथा यदि कहीं संसार की बेगार में पड़ गये तो फिर छुटकारा पाना कठिन हो जाएगा। संसार—सागर से मुक्त होना बहुत कठिन है क्योंकि संसार का कभी कोई छोर नहीं पा सकता तथा न ही मनुष्य की वासनामय प्रवृत्तियों का। अगर व्यक्ति हरि का भजन नहीं करेगा

तो आवागमन का चक्र सदा चलता रहेगा। लेकिन यदि मनुष्य समय रहते राम-राम जपता है तो माया-जन्य विषय-रूपी शत्रु उसका कुछ नहीं बिगाड़ सकते, क्योंकि राम के भक्त पर माया का कोई प्रभाव नहीं पड़ता। अतः मनुष्य को हर समय राम-नाम का स्मरण करते रहना चाहिए।

“सुनहु राम रघुबीर गुसाई, मन अनीति-रत मेरो।  
 चरन-सरोज बिसारि तिहारे, निसिदिन फिरत अनेरो।।  
 मानत नाहिं निगम-अनुसासन, त्रास न काहू केरो।  
 भूल्यो सूल करम-कोलुन्ह तिल ज्यों बहु बारनि पेरो।।  
 जहँ संतसंग कथा माधवकी, सपनेहुँ करत न फेरो।  
 लोभ-मोह-मद-काम-कोह-रत, तिन्हसों प्रेम घनेरो।।  
 पर-गुन सुनत दाह, पर-दूषन सुनत हरख बहुतेरो।  
 आप पापको नगर बसावत, सहि न सकत पर खेरो।।  
 साधन-फल, श्रुति-सार नाम तव, भव-सरिता कहँ बेरो।  
 सो पर-कर काँकिनी लागि सठ, बेंचि होत हठिन चेरो।।  
 कबहुँक हैं संगति-प्रभावतें, जाउँ सुमारग नेरो।  
 तब करि क्रोध संग कुमनोरथ देत कठिन भटभेरो।।  
 इक हौं। दीन, मलीन, हीनमति, बिपतिजाल अति घेरो।  
 तापर सहि न जाय करुनानिधि, मन को दुसह दरेरो।।  
 हारि परयो करि जतन बहुत बिधि, तातें कहत सबेरो।  
 तुलसिदास यह त्रास मिटै जब हृदय करहु तुम डेरो।।”<sup>145</sup>

अर्थात् हे रामजी! हे रघुनाथ जी! हे स्वामी! सुनिये-मेरा मन अन्याय में लगा हुआ है, आपके चरण-कमलों को भूलकर दिन-रात इधर-उधर (विषयों में) भटकता फिरता है। न तो वह वेद की ही आज्ञा मानता है और न उसे किसी का डर ही है। वह बहुत बार कर्मरूपी कोल्हू में तिलकी तरह पेरा जा चुका है, पर अब उस कष्ट को भूल गया है, जहाँ सत्संग होता है, भगवान् की कथा होती है, वहाँ वह मन स्वप्न में भी भूलकर भी नहीं जाता। परन्तु जो लोभ, मोह, मद, काम और क्रोध में मग्न रहते हैं, उन्हीं (दुष्टों) से वह अधिक प्रेम करता है। दूसरों के गुण सुनकर वह (डाह के मारे) जला जाता है और दूसरों के दोष सुनकर बड़ा भारी हरखाता है। स्वयं तो

पापों का नगर बसा रहा है, पर दूसरे के (पापों के) खेड़े को भी नहीं देख सकता। भाव यह कि अपने बड़े-बड़े पापों पर तो कुछ भी ध्यान नहीं देता, परन्तु दूसरों के जरा से पाप को देखकर ही उनकी निन्दा करता है। आपका राम-नाम सारे साधनों का फल, वेदों का सार और संसाररूपी नदी से पार जाने के लिये बेड़ा है, ऐसे राम-नाम को यह दुष्ट दूसरे के हाथ में कौड़ी-कौड़ी के लिये बेचता हुआ जबरदस्ती उनका गुलाम बनता फिरता है। यदि कभी सत्संग के प्रभाव से भगवत् के मार्ग के समीप जाता भी हूँ तो विषयों की आसक्ति उभड़कर मन को तुरंत सांसारिक बुरी कामनारूपी गड़हे में धक्का दे देती है। एक तो मैं वैसे ही दीन, पापी और बुद्धिहीन हूँ तथा विपत्तियों के जाल में खूब फँसा पड़ा हूँ, तिसपर हे करुणानिधि! मन के इस असह्य धक्के को मैं कैसे सह सकता हूँ? मैं अनेक यत्न करके हार गया इससे मैं पहले से ही कहे देता हूँ कि तुलसीदास का यह भय (जन्म-मरण का त्रास) तभी दूर होगा, जब आप उसके हृदय में निवास करेंगे। इसमें तुलसीदास ने आत्म-निन्दा करते हुए अपने आराध्य देव श्रीराम से उद्धार करने की प्रार्थना की है। वे भगवान् से हृदय में निवास करने का आग्रह करते हैं क्योंकि श्रीराम के निवास करने पर इस जगत् के दैहिक, दैविक और भौतिक तीनों ही प्रकार के संताप मिट जाते हैं। वे सभी प्रकार के भय का विनाश कर देते हैं। हाँ, सत्संग के बिना भक्ति नहीं प्राप्त होती है, जबकि संत जन भी तभी मिलते हैं जबकि श्री राम प्रसन्न होकर प्राणी पर अपनी अनुकंपा कर देते हैं। प्राणी हरि कृपा के अभाव में इस आवागमन के चक्कर में पड़ा रहता है। वह इन सांसारिक-विषयों का निर्वाह करने में ही जीवन का लक्ष्य समझता है। जो कि जन्म-मरण के बन्धन में बाँधने वाला है। इन्द्रियों के वशीभूत होकर अरे मन तू अपने चित्त को भोग विलासों में ही लगाता रहता है। तू आज भी सोच विचार ले क्योंकि अभी तो बात बन सकती है। यदि तू भोग विलास को छोड़ दे और भक्तों को आनन्द देने वाले भगवान् श्री राम चन्द्र का भजन कर ले।

**मनोराज्य :-** मनोराज्य का भक्ति की दृष्टि से प्राविधिक अर्थ मनोकांक्षा है। इसकी भूमिका में आराध्य से मनोकांक्षापूर्ति की याचना की जाती है। गोस्वामी तुलसीदास भी प्रत्येक स्थान पर केवल और केवल रामभक्ति का ही वरदान मांगते हैं। उन्हे मोक्ष, ज्ञान, अर्थ, ऋद्धि-सिद्ध-सुयश कुछ भी नहीं चाहिए। संसार में अन्य जितने

व्यक्तियों एवं वस्तुओं से उन्हें प्रेम है, वह (प्रेम) केवल राम में केन्द्रित हो जाए अर्थात् प्रेम हो तो केवल राम से—यह उनका एकमात्र मनोरथ है। हृदय की प्रेमवृत्ति का एकमात्र आलंबन भगवान् राम हों। मनोराज्य में यह समझकर कि मुझे प्रभु ने अपना लिया है, भक्त निर्द्वन्द्व हो जाता है और अपने पावन मनोराज्य में विचरण करता है। नीचे लिखा पद इसी अवस्था का द्योतक है—

“हमैं नँदनंदन मोल लिये। जम के फंद काटि मुकराए,  
अभय अजाद किये । थाल तिलक, स्त्रवननि तुलसीदल,  
मेटे अंक बिये। मूँडयौ मूँड, कंठ बनमाला, मुद्रा—चक्र दिये।  
सब कोउ कहत गुलाम स्याम कौ, सुनत सिरात हिये।  
सूरदास कौँ और बड़ौ सुख जूठन खाइ जिये।।”<sup>146</sup>

अर्थात् हमें तो नन्दलाल ने खरीद लिया है। (उन्होंने) यमराज के फंडे को काटकर अस्वीकार कर दिया और अभय दान देकर मुक्त कर दिया। नंदनंदन ने मेरे मस्तक पर तिलक और कानों में तुलसी देकर दूसरे अंक मिटा दिये। मेरा सिर मुड़ा दिया, कंठ में वनमाला और चक्र की मोहर लगा दी। सब लोग कहते हैं कि यह श्याम का दास हो गया है, जिसे सुनकर हृदय आनन्दित होता है। सूरदास को श्याम की जूठन खाकर जीने में तो और भी बड़ा आनन्द मिलता है। इस प्रकार सूरदास को भगवान् की जूठन खाकर जीने में बहुत आनन्द आता है। कबीर का पद देखिए—

“राम चरन जाकै रिदै बसत हैं, ता मन कौ मन क्यूँ डोलै।  
मानौ अठ सिध्य नव निधि ताकै, हरषि हरषि जस बोलै।।  
जहाँ जहाँ जाइ तहां सच पावै, माया ताहि न झोलै।  
बारंबार बरजि बिषिया तैं, लै नर जौ मन तोलै।।  
ऐसी जे उपजै या जीय कै, कूटिल गांठि सब खोलै।  
कहै कबीर जब मन परचौ भयौ, रहै राम कै बोलै।।”<sup>147</sup>

अर्थात् कबीर कहते हैं कि जिसकी प्रभु के चरणों में वृत्ति रमी हुई होगी, उसका मन चंचल नहीं होता। उसे तो मानो अष्ट—सिद्धि एवं नवनिधि की सहज प्राप्ति हो जाती है एवं वह हर्षित हो—हो कर प्रभु गुणगान करता है। वह जहां कहीं भी जाता है अमित शान्ति लाभ करता है एवं माया उसे नहीं सताती। हे साँसारिक व्यक्ति! यदि तेरा मन विषय—वासना में भटकता है तो बारम्बार उसे वर्जित कर सुपंथभक्ति पर

चलाओ। यदि मन इस प्रकार आचरण करे तो हृदय की समस्त कलुषता और पाप नष्ट हो जायें। कबीर कहते हैं कि जब मन का परम-तत्त्व से साक्षात्कार हो जाता है तो वह प्रभु का दास बना रहता है। इस प्रकार मनोराज्य अर्थात् भक्त द्वारा प्रभु अपनी मनोकांक्षा-पूर्ति की याचना करना। भक्त को केवल रामभक्ति का वरदान ही चाहिए उसे अन्य किसी वस्तु को प्राप्त करने की कोई आकांक्षा नहीं होती है। तुलसीदास द्वारा 'विनय-पत्रिका' प्रेषित करने का कारण ही राम का 'दास' बनने की स्पृहा है। अतः इस कृति में यत्र-तत्र-सर्वत्र इस अकांक्षा का व्यंजित होना स्वाभाविक है—

“यह बिनती रघुबीर गुसाई ।

और आस-बिस्वास-भरोसो, हरो जीव-जड़ताई ॥

चहौं न सुगति, सुमति संपत्ति कछु, रिधि-सिधि बिपुल बड़ाई ॥

हेतु-रहित अनुराग राम-पद बढ़ै अनुदिन अधिकाई ।

कुटिल करम लै जाहिं मोहि जहँ जहँ अपनी बरिआई ।

तहँ तहँ जनि छिन छोह छाँडियो, कमठ-अंडकी नाई ॥

या जगमें जहँ लगिर या तनुकी प्रीति प्रतीति सगाई ।

ते सब तुलसिदास प्रभु ही सों होहिं सिमिटि इक ठाई ॥”<sup>148</sup>

अर्थात् हे श्रीरघुनाथ जी! हे नाथ! मेरी यही विनती है कि इस जीव को दूसरे साधन, देवता या कर्मों पर जो आशा, विश्वास और भरोसा है, उस मूर्खता को आप हर लीजिये। हे राम! मैं शुभगति, सद्बुद्धि, धन-सम्पत्ति, ऋद्धि-सिद्धि और बड़ी भारी बड़ाई आदि कुछ भी नहीं चाहता। बस मेरा तो आपके चरण-कमलों में दिनोंदिन अधिक-से-अधिक अनन्य और विशुद्ध प्रेम बढ़ता रहे, यही चाहता हूँ। मुझे अपने बुरे कर्म जबरदस्ती जिस-जिस योनि में ले जायँ, उस-उस योनि में ही हे नाथ! जैसे कछुआ अपने अंडो को नहीं छोड़ता, वैसे ही आप पलभर के लिये भी अपनी कृपा न छोड़ना। हे नाथ! इस संसार में जहाँ तक इस शरीर का (स्त्री-पुत्र-परिवारादिसे) प्रेम, विश्वास और सम्बन्ध है, सो सब एक ही स्थानपर पर सिमटकर केवल आपसे ही हो जाय। इस प्रकार तुलसीदास भगवान् से प्रार्थना करते हैं कि हे प्रभु! मेरा सम्पूर्ण प्रेम केवल आप से ही हो। मेरी बुद्धि को सांसारिक विषयों की ओर से हटाकर अपनी भक्ति की ओर लगा दो ताकि मैं केवल आप से

प्रेम करूँ तथा अपने जीवन को भक्ति पथ पर लगाकर निश्चिन्त हो जाऊँ। मेरी केवल एक ही स्प्ृहा है कि आप अपने कमल रूपी हाथों को मेरे सिर पर रख दो। ताकि मैं धन्य हो जाऊँ –

“कबहुँ सो कर—सरोज रघुनायक! धरिहौ नाथ सीस मेरे।  
जेहि कर अभय किये जन आरत, बारक बिबस नाम टेरे ॥  
जेहि कर—कमल कठोर संभुधनु भंजि जनक—संसय मेटयो।  
जेहि कर—कमल उठाइ बंधु ज्यों, परम प्रीती केवट भेंटयो ॥  
जेहि कर—कमल कृपालु गीधकहँ, पिंड देइ निजधाम दियो।  
जेहि कर बालि बिदारि दास—हित, कपिकुल—पति सुग्रीव कियो ॥  
आयो सरन सभीत बिभीषन जेहि कर—कमल तिलक कीन्हों।  
जेहि कर गहि सर चाप असुर हति, अभयदान देवन्ह दीन्हों ॥  
शीतल सुखद छाँह जेहि करकी, मेटति पाप, ताप, माया।  
निसि—बासर तेहि कर सरोजकी, चाहत तुलसिदास छाया ॥”<sup>149</sup>

अर्थात् हे रघुनाथजी! हे स्वामी! क्या आप कभी अपने उस कर कमल को मेरे माथे पर रखेंगे, जिससे आपने, परतन्त्रतावश एक बार आपका नाम लेकर पुकार करने वाले आत भक्तों को अभय कर दिया था। जिस कर—कमल से महादेव जी का कठोर धनुष तोड़कर आपने महाराज जनकका सन्देह दूर किया था और जिस कर—कमल से गुह—निषाद को उठाकर भाई के समान बड़े ही प्रेम से हृदय से लगा लिया था। हे कृपालु! जिस कर कमल से आपने (जटायु) गीध को (पिता के समान) पिण्ड—दान देकर अपना परम धाम दिया था, और जिस हाथ से, अपने दास के लिये बालिको मारकर, सुग्रीव को बंदरों के कुलका राजा बना दिया था। जिस कर—कमल से आपने भयभीत शरणागत विभीषण का राज्याभिषेक किया था और जिस हाथ से धनुष—बाण चढ़ा राक्षसों का विनाश कर देवताओं को अभयदान दिया था। तथा जिस कर—कमल की शीतल और सुखदायक छाया पाप, सन्ताप और माया का नाश कर डालती है, हे प्रभु! आपके उसी कर—कमल की छाया यह तुलसीदास रात—दिन चाहा करता है। इस प्रकार तुलसीदास अपने आराध्य से कहते हैं कि हे प्रभु! आप कभी तो अपना कर कमल मेरे सिर पर रखोगे, कभी तो मुझ पर कृपा करोगे। हे नाथ! यह आपका वही कर—कमल है जिसने की संकट में पड़े भक्तों को जिन्होंने

एक ही बार आपका नाम लिया, अभय दान दिया था। यहाँ पर तुलसीदास की राम की कृपा के प्रति अगाध निष्ठा की व्यंजना हुई है और उन्होंने उनसे अपने सिर पर श्रीराम के उस वरद-हस्त की याचना की है जिसके द्वारा वे स्वभक्तों का मात्र एक बार ही नाम स्मरण करने पर भी उद्धार कर देते हैं। उन्हीं आपके कर-कमलों की छाया यह तुलसीदास भी चाहता है क्योंकि उन उन कर-कमलों में माया का नाश तथा जीव को ईश्वर का सादृश्य प्राप्त कराने कि सामर्थ्य है।

**“और मोहि को है, काहि कहिहौं?**

**रंक-राज ज्यों मन को मनोरथ, केहि सुनाइ सुख लहिहौं ।।**

**जम-जातना, जोनि-संकट सब सहे दुसह अरु सहिहौं ।**

**मोको अगम, सुगम तुमको प्रभु, तउ फल चारि न चहिहौं ।।**

**खेलिबेको खग-मृग,तरु-कंकर हवै रावरो राम हौं रहिहौं ।**

**यहि नाते नरकहुँ सचु या बिनु परमपदहुँ दुख दहिहौं ।।**

**इतनी जिय लालसा दास के, कहत पानही गहिहौं ।**

**दीजै बचन कि हृदय आनिये ‘तुलसी को पन निर्बहिहौं’ ।।”<sup>150</sup>**

अर्थात् हे नाथ! मेरे दूसरा कौन है, मैं (अपने मन की बात तुम्हें छोड़कर) और किससे कहूँगा? मेरे मन की कामना रंक के राजा होने-जैसी है, (हूँ तो मैं निपट साधनहीन, पर चाहता हूँ मोक्ष से भी परेका परमात्मप्रेमसुख। इस स्थिति में तुम-सरीखे दयालु को छोड़कर अपना) वह मनोरथ किसे सुनाकर सुख प्राप्त करूँ? (दूसरा कौन मेरी बात सुनकर पूरी करेगा?) यम-यातना अर्थात् नारकीय क्लेश एवं अनेक योनियों में दारुण दुःख सहे हैं और सहूँगा। (मुझे इसकी कुछ भी परवा नहीं है) हे प्रभो! मुझे अर्थ, धर्म, काम और मोक्ष की भी लालसा नहीं है; यद्यपि मेरे लिये ये दुर्लभ हैं, पर तुम चाहो तो इनको सहज में ही दे सकते हो। हे रामजी! (मेरी मनोकामना तो कुछ दूसरी ही है) मैं तो तुम्हारे हाथ के खिलौने के रूप में पक्षी, पशु, वृक्ष और कंकर-पत्थर होकर ही रहना चाहता हूँ। इस नाते से मुझे (घोर) नरक में भी सुख है और इसके बिना मैं मोक्ष प्राप्त करने पर भी दुःख से जलता रहूँगा (मोक्ष नहीं चाहिये; रखो चाहे नरक में, परन्तु अपने हाथ का खिलौना बनाकर रखो। वह खिलौना चाहे चेतन हो या जड़ पेड़-पत्थर हो, मुझे उसी में परम सुख है)। इस दास के मनमें बस एक यही कामना है कि यह सदा तुम्हारी जूती पकड़े



रहे (शरण में पड़ा रहे)। या तो मुझे वचन दे दो (कि हम तेरी यह कामना पूरी कर देंगे) अथवा इस बात को मन में निश्चय कर लो कि हम तुलसी का यह प्रण निबाह देंगे। इस प्रकार तुलसीदास अपने आराध्य को सम्बोधित करते हुए लिखते हैं कि मेरे लिए आप—सरीखा स्वामी और कौन है, जिसे मैं अपने दुख दर्द सुनाऊँ। मेरी अभिलाषा तो ऐसी है जैसी रंक की राजा बनने की होती है। अतः अपनी इस असंगत अभिलाषा को किस को सुनाकर सुख प्राप्त करूँ। भाव यह है कि मैं आपकी भक्ति और प्रेम से बचते हुए भी आपकी कृपा प्राप्त करने के मनसूबे संजोता रहता हूँ। इस प्रकार तुलसीदास अपने मन की इच्छा अपने आराध्य को बताते हुए उसे पूर्ण करने का आग्रह करते हैं तथा प्रभु से निवेदन करते हैं कि मैं जैसा भी हूँ आखिर हूँ तो आपकी ही संतान—

“खोटो खरो रावरो हौं, रावरी सौं, रावरेसों, झूठ क्यों कहौंगो,

जानो सब ही के मन की।

करम—बचन—हिये, कहौं न कपट किये, ऐसी हठ जैसी गाँठि

पानी परे सनकी।।

दूसरो, भरोसो नाहिं बासना उपासना की, बासव, बिरंचि

सुर—नर—मुनिगनकी।

स्वारथके साथी मेरे, हाथी स्वान लेवा देई, काहू तो न पीर

रघुबीर! दीन जनकी।।

साँप—सभा साबर लबार भये देव दिव्य, दुसह साँसति कीजै

आगे ही या तनकी।

साँचे परौं, पाऊँ पान, पंच में पन प्रमान, तुलसी चातक आस

राम स्याम घन की।।<sup>151</sup>

अर्थात् बुरा—भला जो कुछ भी हूँ सो आपका हूँ। आपकी सौंह, मैं आपसे झूठ क्यों कहूँगा? आप तो सभी के मन की बात जानते हैं। मैं कपट से नहीं; परन्तु कर्म, वचन और हृदय से कहता हूँ कि ‘मैं आपका हूँ।’ यह आपकी गुलामी का हठ इतना पक्का है जैसे पानी से भीगे हुए सनकी गाँठ! हे रामजी! न तो मुझे दूसरे का भरोसा है और न मुझे इन्द्र, ब्रह्मा अथवा अन्य देवता, मनुष्य और मुनियों की उपासना करने की ही इच्छा है। आपके सिवा सभी स्वार्थ के साथी हैं, जन्म भर

हाथी की तरह सेवा करने पर कहीं कुत्ते—जैसा तुच्छ फल देते हैं। इनमें से किसी को भी दीनों के दुःख में ऐसी सहानुभूति नहीं है, जैसी आपको है। हे दिव्यदेव, 'मैं आपका गुलाम हूँ' यह बात यदि मैं झूठ कहता हूँ तो मेरे इस शरीर को अपने ही आगे ऐसा असह्य कष्ट दीजिये, जैसा साँपों की सभा में (साँप को वश करने का मन्त्र नहीं जानने वाले) झूठे सँपेरे को मिलता है अर्थात् उस पाखण्डी को साँप काट खाते हैं। और यदि मैं सच्चा (राम का गुलाम) सिद्ध हो जाऊँ तो हे नाथ! मुझे पंचों के बीच में सचाई का एक बीड़ा मिल जाय। क्योंकि मुझ तुलसी रूपी चातक को एक रामरूपी श्याम मेघ की ही आशा है।" इस प्रकार तुलसीदास अपने आराध्य के सम्मुख दैन्य भाव की व्यंजना करते हुए लिखते हैं कि हे प्रभु! चाहे मैं खोटा हूँ अथवा खरा हूँ अर्थात् भला हूँ अथवा बुरा हूँ— जैसा कुछ भी हूँ आपका ही हूँ, इसलिए मैं आपसे झूठ क्यों बोलूँगा। वैसे भी तो आप अन्तर्यामी होने के कारण सभी के हृदय की बातों के रहस्यों को जानते ही हैं अतः आपके सम्मुख झूठ बोलने का कोई लाभ भी नहीं है। हे नाथ! मैं मनसा—वाचा—कर्मणा सभी प्रकार से निष्कपट होकर यह बात कह रहा हूँ कि मैं आपका सेवक हूँ और आपका भक्त कहलाने का मेरा हठ उतना ही सुदृढ़ है जैसे कि सन की बनी हुई रस्सी की गाँठ पानी पड़ने अर्थात् भीग जाने की दशा में और भी पक्की हो जाया करती है। इस प्रकार तुलसीदास अपने आराध्य को अपना स्वामी तथा स्वयं को सेवक समझते हैं—

“हे राम कबहुँ प्रिय लागिहौ जैसे नीर मीनको?

सुख जीवन ज्यों जीवको, मनि ज्यों फनिको हित, ज्यों धन लोभ—लीनको ॥

ज्यों सुभाय प्रिय लगति नागरी नागर नवीनको ।

त्यों मेरे मन लालसा करिये करुनाकर! पावन प्रेम पीनको ॥

मनसाको दाता कहैं श्रुति प्रभु प्रबीनको ।

तुलसिदासको भावतो, बलि जाऊँ दयानिधि! दीजै दान दीनको ॥<sup>152</sup>

अर्थात् हे श्रीराम जी! मुझे क्या कभी आप ऐसे प्यारे लगेंगे, जैसा मछली को जल प्यारा लगता है, जीव को सुखमय जीवन प्यारा लगता है, साँप को मणि प्रिय लगती है और अत्यन्त लोभी को धन प्यारा लगता है? अथवा जैसे नवयुवक नायक को स्वभाव से ही नवयुवती चतुरा नायिका प्यारी लगती है, वैसे ही हे करुणा की खानि! मेरे मनमें केवल आपके प्रति पवित्र और अनन्य प्रेम की ही एक लालसा उत्पन्न कर

दीजिये। वेद कहते हैं कि प्रभु मनमानी वस्तु देने वाले हैं और बड़े ही चतुर हैं (बिना ही कहे मन की बात जानकर उसे पूरी कर देते हैं)। हे दयानिधे! मैं आपकी बलैया लेता हूँ, इस दिन तुलसीदास को भी उसकी मनचाही वस्तु का दान दे दीजिये। इस प्रकार तुलसीदास अपने प्रभु श्रीराम को सम्बोधित करते हुए लिखते हैं कि हे प्रभु! वह दिन कब आयेगा जब आप मुझे उतने ही प्रिय लगेंगे जितना मछली का जल लगता है। जिस प्रकार कि मछली जल से बिछुड़ने पर प्राण त्याग देती है, प्रभु के प्रति मेरे मन में वही अन्नयता का भाव कब आयेगा। भाव यह है कि आप मुझे उतने ही प्रिय कब लगेंगे, जितना जीव को जीवन, सर्प को अपनी मणि और कंजूस व्यक्ति को अपना धन लगता है। तात्पर्य यह है कि तुलसीदास अपने प्रभु से प्रार्थना करते हैं कि हे प्रभु मेरी यह इच्छा है कि मेरा मन केवल आपके चरणों में ही लगे केवल आप से ही प्रेम हो।

**आश्वासन:**— भक्ति—मार्ग पर प्रथम चरण रखते ही भक्त के समक्ष यह शंका उपस्थित हो सकती है कि आंतरिक (इंद्रियगत मनगत) एवं बाह्य(भौतिक या मायागत) दोनों ही ओर प्रबल शत्रुओं के रहते वह कैसे अविचलित रहेगा। अंतर्मन में भ्रमजन्य तर्क—बुद्धि अनेक प्रकार की शंकाओं को जन्म देती है, जिसके परिणामस्वरूप भक्त के परमात्म—विमुख होने का भय बना रहता है। मन दिग्भ्रमित होकर ईश्वर के अस्तित्व अथवा उसकी शक्ति पर प्रश्नचिह्न लगा सकता है। इसके अतिरिक्त, मन के कंचन—कामिनी अथवा अर्थ—काम इत्यादि बाह्य दुर्वृत्तियों की ओर उन्मुख होने का भी भय बना ही रहता है। इस प्रकार की स्थितियों से बचने के लिए भक्त मन को आश्वासन देता है कि प्रभु की महिमा अपार है, उनकी शक्ति अमित है, उनका प्रभाव असीमित है। मन को आश्वस्त करने के लिए भक्त प्रभु के सर्वशक्तिमान रूप की स्मृति करता है। प्रभु की कृपा होने पर भक्त का कोई कुछ नहीं बिगाड़ सकता। आश्वासन में प्रभु की उदारता, शरणागत वत्सलता और रक्षा का विश्वास रहता है। भक्त प्रभु की महनीय महत्ता से आश्वस्त हो जाता है। बड़ी से बड़ी विपत्ति में भी वह अपने साहस को नहीं छोड़ता। इसी प्रकार का विश्वास सूरदास को भी है—

“हृदय की कबहुँ न जरनि घटी।

बिनु गोपाल बिथा या तन की कैसँ जाति कटी। अपनी रुचि जित ही जित ऐँचति

इंद्रिय—कर्म—गटी ।

हाँ तित हीँ उठि चलत कपट लगि, बाँधे नैन—पटी ।

झूठौ मन, झूठी सब काया, झूठी आरभटी ।

अरु झूठनि के बदन निहारत मारत फिरत लटी ।

दिन दिन हीन छीन भइ काया दुख—जंजाल—जटी ।

चिंता कीन्हँ भूख भुलानी, नींद फिरति उचटी ।

मगन भयौ माया—रस लंपट, समुझत नाहिँ हटी ।

ताकँ मुँड चढ़ी नाचति है मीचति नीच नटी ।

किंचित स्वाद स्वान—बानर ज्यौँ, घातक रीति ठटी ।

सूर सुजल सींचियै कृपानिधि, निज जन चरन तटी ।<sup>153</sup>

अर्थात् हृदय की जलन कभी कम नहीं हुई। बिना श्री कृष्ण के इस शरीर का कष्ट कैसे कट सकता है जिस ओर जिस इन्द्रिय की रुचि कर्मों के समूह को खींचती है मैं उसी कपट की ओर होकर आँख पर पट्टी बाँधे चल देता हूँ। मन, शरीर तथा सभी लौकिक कर्म झूठे हैं तथा झूठे व्यक्तियों का मुँह देखते हुए मैं डींग मारता फिरता हूँ। यह शरीर प्रतिदिन हीन और क्षीण होता जा रहा है तथा दुःख और झंझट इसे जकड़े हुए हैं चिन्ता करने के कारण भूख नहीं लगती तथा नींद उचाट हो गई है। मैं लंपट माया में मग्न हो गया हूँ अपना अच्छा—बुरा नहीं समझ पा रहा हूँ। इसके सिर पर मृत्यु नीच नर्तकी की भाँति चढ़ी नाच रही है जैसे थोड़े से स्वाद के लिए कुत्ता तथा स्वाति के लिए चातक एकचित्त रहता है उसी प्रकार मैं विषय रस में एकचित्त हूँ) सूरदास कहते हैं कि हे कृपानिधान, अपने भक्तों की (पीड़ा) मिटाने के लिए सुन्दर जल सींच दीजिए। इस प्रकार भक्त अपने प्रभु के सामर्थ्य का स्मरण दिलाकर दुख दग्ध आत्मा को आश्वस्त करता है। कबीर को भी अपने राम पर इतना ही भरोसा है। कबीर लिखते हैं कि ईश्वर भजन का प्रताप इतना है कि जल पर पत्थर भी तैरने लगते हैं—

“है हरि भजन कौ प्रवांन ।

नीच पाँवै ऊँच पदवी, बाजते नीसान ॥

भजन कौ प्रताप ऐसो, तिरे जल पाषान ।

अधम भील अजाति गनिका, चढ़े जात बिवांन ।

नव लख तारा चलै मंडल, चलै ससिहर भांन ।  
 दास धूकौं अटल पदवी, रामं को दीवांन ॥  
 निगम जाकी साखि बोलैं, कहै संत सुजांन ।  
 जन कबीर तेरी सरनि आयौ, राखि लेहु भगवांन ॥<sup>154</sup>

अर्थात् प्रभु भजन महिमा का प्रमाण ऐसा है कि नीच व्यक्ति भी उच्चतम पद प्राप्त कर लेता है और उसके यहाँ ऐश्वर्य सूचक नगाड़े बजने लगते हैं। ईश्वर भजन का प्रताप है कि जल पर पत्थर भी तैरने लगते हैं। नीच भीलनी शबरी एवं वेश्या तक का प्रभु-भक्ति के द्वारा स्वर्गारोहण के लिए विमान प्राप्त हुए। राम भक्त के सम्मानार्थ नौ लाख नक्षत्रगण एवं चन्द्र और सूर्य चले। ब्रह्म वास्तव में ऐसा ही अनुपम है। साधुगण कहते हैं कि वेदादि धर्मग्रन्थ भी उसकी अनुपमता की साक्षी देते हैं। हे प्रभु! दास कबीर आपकी शरण में आया है उसे आप शरण देकर रख लें। इस प्रकार आश्वासन अर्थात् प्रभु की असीमित शक्ति पर विश्वास रखते हुए अबोध मन को विषय-वासनाओं रूपी शत्रुओं पर विजय का आश्वासन देना अथवा प्रबोध देना। इस प्रकार कबीर को अपने राम पर पूर्ण विश्वास है, उनकी असीमित शक्ति पर विश्वास है, उनके शरणागतवत्सल रूप पर पूर्ण भरोसा है। प्रभु शरण में आये हुए को अपने गले से लगाकर भव बन्धन से मुक्त कर देते हैं तथा भक्त को परम आनन्द से साक्षात्कार करवाते हैं—

“भरोसो और आइहै उर ताके ।  
 कै कहँ लहै जो रामहि सो साबिह, कै अपनो बल जाके ॥  
 कै कलिकाल कराल न सूझत, मोह-मार-मद छाके ।  
 कै सुनि स्वामि-सुभाउ न रह्यो चित, जो हित सब अँग थाके ॥  
 हौं जानत भलिभाँति अपनपौ, प्रभु-सो सुन्यो न साके ।  
 उपल, भील, खग, मृग, रजनीचर, भले भये करतब काके ॥  
 मोको भलो राम-नाम सुरतरु सो, रामप्रसाद कृपालु कृपा के ।  
 तुलसी सुखी निसोच राज ज्यों बालक माय-बबा के ॥<sup>155</sup>

अर्थात् उसी के मन में किसी दूसरे का भरोसा होगा, जिसे या तो कहीं श्रीरामचन्द्रजी के समान कोई दूसरा मालिक मिल गया हो, या जिसके अपने साधन आदि का बल हो (मुझे न तो कोई ऐसा मालिक ही मिला है, और न किसी प्रकार

का साधन—बल ही है)। अथवा जिसे अज्ञान, काम और अभिमान में मतवाला हो जाने के कारण कराल कलिकाल न सूझता हो अथवा जिसके चित्त पर सब प्रकार से (साधन करके, और इधर—उधर भटककर) थके हुए लोगों के हितकारी स्वामी रामचन्द्रजी का (दीन और शरणागतवत्सल) स्वभाव सुनने पर भी उसका स्मरण न रहा हो। (मुझे तो अपने स्वामी के दयालु स्वभाव का सदा ध्यान बना रहता है) मैं तो अपने (क्षुद्र) पुरुषार्थ को भी भली भाँति जानता हूँ, एवं मैंने श्री रघुनाथ जी के अतिरिक्त और किसी स्वामी की ऐसी कीर्ति भी नहीं सुनी (जो इस तरह महापापी शरणागतों को अपना लेता हो।) पत्थर की (अहल्या), भील, पक्षी (जटायु), मृग (मारीच) और राक्षस (विभीषण) इन सबों में किसके कर्म शुभ थे? (किन्तु भगवान् ने इन सबका उद्धार कर दिया)। मेरे लिये तो एक राम—नाम ही कल्पवृक्ष हो गया है, और वह कृपालु श्रीरामचन्द्र जी की कृपा से हुआ है। (इसमें भी मेरा कोई पुरुषार्थ नहीं है)। अब तुलसी इस अनुग्रह के कारण ऐसा सुखी और निश्चिन्त है, जैसे कोई बालक अपने माता—पिता के राज्य में होता है। इस प्रकार तुलसीदास को अपने आराध्य भगवान् श्री राम की अपार महिमा तथा अमित शक्ति में पूर्ण विश्वास है। तुलसीदास राम को अपने माता—पिता मानते हैं जिस प्रकार कोई छोटा बालक अपने माता—पिता की उपस्थिति में खुश रहता है वैसे ही तुलसीदास अपने कृपालु राम की शरण में रहकर खुश रहते हैं, क्योंकि भगवान् ने अहल्या, भील, जटायु, मारीच, विभीषण आदि के शुभ कर्म न होने पर भी शरण में आने पर उद्धार कर दिया उसी प्रकार तुलसीदास को भरोसा है कि मैं दीन हूँ लेकिन भगवान् शरणागत—वत्सल हैं अतः मेरा उद्धार भी अवश्य करेंगे—

**“भरोसो जाहि दूसरो सो करो।**

**मोको तो रामको नाम कलपतरु कलि कल्याण फरो ॥**

**करम उपासन, ग्यान, बेदमत, सो सब भाँति खरो।**

**मोहि तो 'सावन के अंधहि' ज्यों सूझत रंग हरो।**

**चाटत रह्यो स्वान पातरि ज्यों कबहुँ न पेट भरो।**

**सो हौं सुमिरत नाम—सुधारस पेखत परुसि धरो ॥**

**स्वारथ औ परमारथ हू को नहि कुंजरो—नरो।**

**सुनियत सेतु पयोधि पषाननि करि कपि कटक—तरो ॥**

प्रीति—प्रतीति जहाँ जाकि, तहँ ताको काज सरो ।  
मेरे तो माय—बाप दोउ आखर, हौँ सिसु—अरनि अरो ।।  
संकर साखि जो राखि कहौँ कछु तौ जरि जीह गरो ।  
अपनो भलो राम—नामहि ते तुलसिहि समुझि परो ।।<sup>156</sup>

अर्थात् जिसे दूसरे का भरोसा हो, सो करे। मेरे लिये तो इस कलियुग में एक राम—नाम ही कल्पवृक्ष हैं, जिसमें कल्याण रूपी फल फला है। भाव यह कि राम—नाम से ही मुझे तो यह भगवत्प्रेम प्राप्त हुआ है। यद्यपि कर्म, उपासना और ज्ञान—ये वैदिक सिद्धान्त सभी सब प्रकार से सच्चे हैं, किन्तु मुझे तो, सावन के अन्धे की भाँति, जहाँ देखता हूँ वहाँ हरा—ही हरा रंग दीखता है। (एक राम—नाम ही सूझ रहा है)। मैं कुत्ते की नाई (अनेक जूँटी) पत्तलों को चाटता फिरा, पर कभी मेरा पेट नहीं भरा। आज मैं नाम—स्मरण करने से अमृतरस परोसा हुआ देखता हूँ। (मैंने अनेक देवभोग्य भोग भोगे, परन्तु कहीं तृप्ति नहीं हुई। पूर्ण, नित्य परमानन्द कहीं नहीं मिला। अब श्रीराम नाम का स्मरण करते ही मैं देख रहा हूँ कि मुक्तिका थाल मेरे सामने परोसा रखा है अर्थात् ब्रह्मानन्द रूप मोक्ष पर तो मेरा अधिकार ही हो गया। परोसी थाली के पदार्थ को जब चाहूँ तब खा लूँ, इसी प्रकार मोक्ष तो जब चाहूँ तभी मिल जाय। परन्तु मैं तो मुक्त पुरुषों की कामना की वस्तु श्रीराम—प्रेम—रसका पान कर रहा हूँ।) मेरे लिये राम—नाम स्वार्थ और परमार्थ दोनों का ही साधक है, (मुक्तिरूपी स्वार्थ और भगवत्प्रेमरूपी परम अर्थ दोनों ही मुझे श्रीराम—नाम से मिल गये)। यह बात 'हाथी है या मनुष्य' की सी दुविधा भरी नहीं है, (क्योंकि मुझे तो प्राप्त है)। मैंने सुना है कि इसी नाम के प्रभाव से बंदरों की सेना पत्थरों का पुल बनाकर समुद्र को पारकर गयी थी। जहाँ जिसका प्रेम और विश्वास है, वहीं उसका काम पूरा हुआ है। (इसी सिद्धान्त के अनुसार) मेरे तो माँ—बाप ये दोनों अक्षर—'र' और 'म' हैं। मैं तो इन्हीं के आगे बालहठ से अड़ रहा हूँ, मचल रहा हूँ, यदि मैं कुछ भी छिपाकर कहता होऊँ तो भगवान् शिवजी साक्षी हैं, मेरी जीभ जलकर या गलकर गिर जाय। (यह 'कवि—कल्पना' या अत्युक्ति नहीं है, सच्ची स्थिति का वर्णन है) यही समझ में आया कि अपना कल्याण एक राम—नाम से ही हो सकता है। इस प्रकार तुलसीदास लिखते हैं कि यदि कोई चाहे तो श्रीराम को छोड़कर किसी अन्य पर भरोसा कर सकता है किन्तु मेरे लिये तो

श्रीराम का नाम कल्पवृक्ष के समान है। जिसमें कलियुग में भी कल्याण के फल लग रहे हैं। भाव यह है कि मेरा यह अटूट विश्वास है कि मेरी सभी मनोकामनाएँ केवल भगवान् राम की भक्ति से पूर्ण हो सकती हैं। तुलसीदास भगवान् राम की महिमा जानते हैं तथा कलियुग अर्थात् सांसारिक कष्टों से संतप्त जीव को उदाहरण दे-देकर समझाते हैं कि हरि-चरणों में भक्ति होने पर जीव आसानी से इस भवसागर से तर जाता है तथा अपना व लोक का वास्तविक कल्याण करता है।

**“कलि नाम कामतरु रामको।**

**दलनिहार दारिद दुकाल दुख, दोष घोर घन घाम को।।**

**नाम लेत दाहिनो होत मन, बाम बिधाता बामको।**

**कहत मुनीस महेस महातम, उलटे सूधे नाम को।।**

**भलो लोक-परलोक तासु जाके बल ललित-लालामको।**

**तुलसी जग जानियत नामते सोच न कूच मुकाम को।।”<sup>157</sup>**

अर्थात् कलियुग में श्रीराम-नाम ही कल्पवृक्ष है। क्योंकि वह दारिद्र्य, दुर्भिक्ष, दुःख, दोष और घनघटा (अज्ञान) तथा कड़ी धूप (विषय-विलास)-का नाश करने वाला है। राम-नाम लेते ही प्रतिकूल विधाता का प्रतिकूल मन भी अनुकूल हो जाता है। मुनीश्वर वाल्मीकि ने उलटे अर्थात् ‘मरा-मरा’ नाम की महिमा गायी है और शिवजी ने सीधे राम-नामका माहात्म्य बताया है तात्पर्य यह है कि उलटा नाम जपते-जपते बाल्मीकि व्याध से ब्रह्मर्षि हो गये और शिवजी सीधा नाम जपने से हलाहल विषका पान कर गये तथा स्वयं भगवत्स्वरूप माने गये। जिसे इस परम सुन्दर राम-नाम का बल है, उसके लोक और परलोक दोनों ही सुखमय हैं। हे तुलसी! राम-नाम का बल होने पर न तो इस संसार से जाने में सोच प्रतीत होता है और न यहाँ रहने में ही। भाव यह है कि उसके लिये परमानन्द में मग्न रहने के कारण जीवन-मरण समान हो जाते हैं। इस प्रकार तुलसीदास लिखते हैं कि इस कलियुग में श्रीराम का नाम कल्पवृक्ष के समान है और उसके प्रताप से दरिद्रता, अकाल, अवगुण रूपी घोर धूप नष्ट हो जाती है- वह लोगों के दुःख दरिद्र्य का विनाश कर देता है। जिस प्राणी को श्रीराम के नाम का सहारा प्राप्त है उसके इहलोक और परलोक दोनों ही सुधर जाते हैं। इस तथ्य को समस्त संसार जानता है कि उनके नाम का स्मरण करने से न तो मृत्यु का भय रह जाता है और न स्वर्ग-नरक



की चिंता शेष रहती है अर्थात् व्यक्ति पूर्ण काम हो जाता है। राम के नाम स्मरण की महिमा के सम्बन्ध में तुलसीदास ने लिखा है—

“जो पै कृपा रघुपति कृपालु की, बैर और के कहा सरै।  
होइ न बाँको बार भगत को, जो कोउ कोटि उपाय करै॥  
तकै नीचु जो मीचु साधु की, सो पामर तेहि मीचु मरै।  
बेद—बिदित प्रहलाद—कथा सुनि, को न भगति—पथ पाउँ धरै?॥  
गज उधारि हरि थप्यो बिभीषन, ध्रुव अबिचल कबहूँ न टरे।  
अंबरीष की साप सुरति करि, अजहूँ महामुनि ग्लानि गरै॥  
सों धौँ कहा जुन कियो सुजोधन, अबुध आपने मान जरै।  
जोइ जोइ कूप खनैगो परकहँ सो सठ फिरि तेहि कूप परै।  
सपनेहुँ सुख न संतद्रोही कहँ, सुरतरु सोउ विष—फरनि फरै॥  
हैं काके द्वै सीस ईस के जो हठि जनकी सीवँ चरै।  
तुलसिदास रघुबीर—बाहुबल सदा अभय काहू न डरै॥<sup>158</sup>”

अर्थात् “यदि कृपालु रघुनाथ जी की कृपा है, तो दूसरों के वैर करने से उनका क्या काम निकल सकता है? भक्त का बाल भी बाँका नहीं होता, चाहे कोई करोड़ों उपाय क्यों न करे। जो नीच संत की मौत विचारता है, वह पामर स्वयं उसी मौत से मरता है। प्रह्लाद की कथा वेदों में प्रसिद्ध है, उसे सुनकर ऐसा कौन (अभागा) होगा, जो भक्ति—मार्ग पर पैर न रखेगा, यानी भक्ति न करेगा? श्री हरि ने गजराज का उद्धार किया, विभीषण को राज्य—सिंहासन पर बैठाया, ध्रुव को ऐसा अटल पद दे दिया जो कभी हटता ही नहीं और अम्बरीष की तो बात ही निराली है, महामुनि (दुर्वासा) ने जो उनको शाप था, उसका परिणाम याद करके अब भी वे ग्लानि से गले जाते हैं, लाज से मरे जाते हैं। दुर्योधन ने अपनी जान में, ऐसी कौन—सी बुराई है, जो पाण्डवों के साथ नहीं की। वह मूर्ख अपने ही घमंड में जलता रहा। पर भगवान् की कृपा से सौभाग्य, विजय और यश ने पाण्डवों को ही हठपूर्वक अपनाया। जो दूसरे के लिये कुआँ खोदेगा, वह दुष्ट स्वयं उसी में गिरेगा। संतों के साथ वैर करने वाले को स्वप्न में भी सुख नहीं हो सकता। उसके लिये तो कल्पवृक्ष ही जहरीले फल ही फलेगा। किसके दो सिर हैं जो भगवान् के भक्त की सीमा लाँघेगा? हे तुलसीदास! जिसके श्री रघुनाथ जी का बाहु—बल सहायक है, वह सदा निर्भय है, किसी से भी

नहीं डर सकता” इस प्रकार तुलसीदास लिखते हैं कि राम—नाम के प्रभाव से भक्त का बाल भी बाँका नहीं होता। जिस को राम जी की भुजाओं का बल है वह सदा निडर है, वह किसी से नहीं डरता। तुलसीदास ने इस तथ्य पर बल दिया है कि जिस प्राणी पर श्रीराम की अनुकम्पा रहती है यदि उससे दूसरे प्राणी और देवी—देवता नाराज भी हों तो कोई अन्तर नहीं पड़ता है। ऐसे व्यक्ति से शत्रुता करने का कोई भी लाभ नहीं है। कारण यह है कि उनके भक्तों का तो बाल भी बाँका नहीं हो पाता है, चाहे कोई करोड़ों उपाय भी क्यों न कर ले। श्रीराम की कृपालुता का वर्णन कहाँ तक किया जाये क्योंकि उन्होंने ग्राह के चंगुल में फंसे गजराज का उद्धार किया था तथा सुग्रीव और विभिषण को राज्य—सिंहासनों पर आसीन कर दिया था और भक्त ध्रुव को ऐसा अटल स्थान प्रदान किया था कि वह आज भी अपने स्थान पर अटल है। इसी प्रकार महामुनि दुर्वासा अब भी इस आत्म ग्लानि से मरते रहते हैं कि उन्होंने अम्बरीष को शाप क्यों दिया था? उस शाप के स्मरण—मात्र से वह अत्यधिक दुखी होते रहते हैं, क्योंकि उन्हें बाद में यह तथ्य ज्ञात हो गया था कि अम्बरीष पर भगवान् की विशेष कृपा थी। तुलसीदास ने परोपकार पर बल देते हुए लिखा है कि जो कोई मूर्ख व्यक्ति दूसरे के लिए कुआँ खोदेगा, वह शठ स्वयं उस कुएँ में जाकर गिरेगा। संतो तथा सज्जनों के साथ शत्रु भाव रखने वाले व्यक्ति को तो स्वप्न में भी सुख नहीं मिल सकता है। इस प्रकार जिस व्यक्ति को श्रीराम के बाहुबल का सहारा प्राप्त होता है उसे संसार का कोई भी भय नहीं सता सकता है। इस प्रकार का भक्त सभी प्रकार से निर्भय रहा करता है। अतः तुलसीदास भक्त को भगवान् की सेवा तथा प्रेम करने का संदेश देते हुए लिखते हैं कि—

“ऐसेहू साहब की सेवा सों होत चोरु रे।  
 आपनी न बूझ, न कहै को राँडरोरु रे।।  
 मुनि—मन—अगम, सुगम माइ—बापु सों।  
 कृपासिंधु, सहज सखा, स्नेही आपु सों।।  
 लोक—बेद—बिदित बड़ो न रघुनाथ सों।  
 सब दिन सब देस, सबहि के साथ सों।।  
 स्वामी सरबग्य सों चलै न चोरी चार की।

प्रीति पहिचानि यह रीति दरबार की ॥  
 काय न कलेस—लेस, लेत मान मन की ।  
 सुमिरे सकुचि रूचि जोगवत जनकी ॥  
 रीझे बस होत, खीझे देत निज धाम रे ।  
 फलत सकल फल कामतरु नाम रे ॥  
 बेंचे खोटो दाम न मिलै, न राखे काम रे ।  
 सोऊ तुलसी निवाज्यो ऐसो राजा राम रे ॥<sup>159</sup>

अर्थात् अरे! तू ऐसे स्वामी की सेवा से भी अपना जी चुराता है। तुझमें न तो अपनी समझ है और न तुझे दुसरे के कहे का ही कुछ खयाल है, तू तो किसी भी काम का नहीं, पत्थर का रोड़ा है। जो भगवान् श्री राम मुनियों के मन को भी अगम हैं, वही भक्तों के लिये माता—पिता के समान सुगम हैं, वे कृपा के समुद्र हैं, स्वभाव से ही मित्र और अपने—आप ही प्रेम करने वाले हैं। यह बात लोक और वेद में प्रसिद्ध है कि श्री रघुनाथ जी से बड़ा कोई भी नहीं है, वे सर्वदा सर्वत्र और सभी के साथ रहते हैं। (सच्चे मन से श्री राम से प्रेम कर, क्योंकि) वे स्वामी सर्वज्ञ हैं, उनसे सेवक की चोरी छिपी नहीं रह सकती। वहाँ प्रेम की ही पहचान होती है, यही उनके दरबार की नीति है। उनकी सेवा में शरीर को जरा—सा भी कष्ट नहीं पहुँचता, वे स्वामी मनके प्रेम और सेवाको ही मान लेते हैं। प्रेम से स्मरण करते ही वे संकोच में पड़ जाते हैं और सेवक की रूचि देखने लगते हैं, अर्थात् भक्तों को मनामानी वस्तु देकर भी इसी संकोच में रहते हैं कि हमने कुछ भी नहीं दिया। वह जिसपर प्रसन्न होते हैं, उसके वश में हो जाते हैं और जिसपर नाराज होते हैं उसे (देह के बन्धन से छुड़ाकर) अपने परम धाम में भेज देते हैं। उनका नाम कल्पवृक्ष के समान है, जिसमें सब प्रकार के फल फलते हैं। जिसके बेचने पर एक खोटा पैसा नहीं मिलता और रखने से कुछ काम नहीं निकलता, ऐसे तुलसीदास को भी जिन्होंने निहाल कर दिया, ऐसे राजाधिराज श्रीरामजीका क्या कहना है? इस प्रकार तुलसीदास लिखते हैं कि राम—नाम कल्पवृक्ष के सदृश है क्योंकि इस को बेचने पर कुछ भी नहीं मिल सकता है और रखने से कुछ काम नहीं निकलता, ऐसे राजाधिराज श्रीराम जी का क्या कहना है। तात्पर्य यह है कि श्रीराम जैसा कृपालु स्वामी मिलना अत्यन्त कठिन है। प्रस्तुत पद में तुलसीदास ने यह भाव व्यक्त किया है कि अरे मूर्ख! तू ऐसे

कृपालु स्वामी की सेवा करने से भी जी चुराता रहता है। इससे बढ़कर तेरी मूर्खता और क्या होगी? एक तो तुझको स्वयं समझ बूझ नहीं है, जबकि दूसरे तू किसी का कहना भी नहीं मानता है तू कौड़ी भी काम का नहीं हैं और पत्थर के रोड़े के तुल्य है। इस प्रकार तुलसीदास अपने अंतर्मन की प्रताड़ना करते हुए लिखते हैं कि राम जैसे स्वामी की सेवा करने से मेरा मन जी चुराता रहता है जो कि इतने कृपालु है कि तनिक-सी सेवा करने पर भक्त को निहाल कर देते हैं।

“ऐसी कौन प्रभुकी रीति?

बिरद हेतु पुनीत परिहरि पाँवरनि पर प्रीति ॥

गई मारन पूतना कुच कालकूट लगाइ ।

मातुकी गति दई ताहि कृपालु जादवराइ ॥

काममोहित गोपिकनिपर कृपा अतुलित कीन्ह ।

जगत-पिता बिरंचि जिन्हके चरनकी रज लीन्ह ॥

नेमतेँ सिसुपाल दिन प्रति देत गनि गनि गारि ।

कियो लीन सु आपमें हरि राज-सभा मँझारि ॥

ब्याध चित दै चरन मारयो मूढमति मृग जानि ।

सो सदेह स्वलोक पठयो प्रगट करि निज बानि ॥

कौन तिन्हकी कहै जिन्हके सुकृत अरु अघ दोउ ।

प्रगट पातकरूप तुलसी सरन राख्यो सोउ ॥”<sup>160</sup>

अर्थात् (भगवान् के सिवा) और किस स्वामी की ऐसी रीति है जो अपने विरद के लिये पवित्र जीवों को छोड़कर पामरों पर प्रेम करता हो? राक्षसी पूतना स्तनों में विष लगाकर उन्हें (भगवान् कृष्ण को) मारने गयी थी, किन्तु कृपालु यादवेन्द्र श्रीकृष्ण ने उसे माता की सी-गति प्रदान की (उसका उद्धार कर दिया)। आपने काममोहित गोपियों पर ऐसी अतुल कृपा की कि जगत्पिता ब्रह्मा ने भी उनके चरणों की धूलि (अपने मस्तक पर) चढ़ायी। जो शिशुपाल नियम से प्रतिदिन गिन-गिनकर गालियाँ देता था उसको आपने राजाओं की सभा में (पाण्डवों के राजसूय-यज्ञ में) सबके देखते देखते अपने में ही मिला लिया। मूर्ख बहेलिये ने तो मृग समझकर आपके चरण में निशाना लगाकर (बाण) मारा, पर उसे भी आपने अपनी दयालुता की बान प्रकट करके सदेह अपने परमधाम को भेज दिया। (इस प्रकार के जीवों ने)

जिन्होंने पुण्य और पाप दोनों ही किये हैं उनके लिये तो क्या कही जाय?(क्योंकि उनका तो सद्गति पाने का कुछ-न-कुछ अधिकार ही था) किन्तु उन्होंने तो प्रत्यक्ष पापमूर्ति तुलसी को भी शरण में रख लिया है (इसी से उनकी बान प्रत्यक्ष सिद्ध हो जाती है) इस प्रकार तुलसीदास लिखते हैं कि भगवान् श्रीराम ने उनको अपनी शरण में ले लिया है। श्रीराम और श्रीकृष्ण दोनों ही अवतारों की वन्दना करते हुए लिखते हैं कि विष्णु के अवतार श्रीराम के अतिरिक्त ऐसी किस अन्य प्रभु की रीति ऐसी है कि वह अपने विरुद्ध की रक्षा करने के लिए अर्थात् अपने पतितोद्धारक के विरुद्ध को निभाने के लिए पावन चरित्र वाले लोगों को छोड़कर अधम लोगों को प्रेम करते हों उनका उद्धार करते हों। इस प्रकार तुलसीदास ने श्रीराम के नाम को कल्पतरु जैसा फल-दायक चित्रित किया है। प्रस्तुत पद में तुलसीदास ने यह धारणा व्यक्त की है कि यद्यपि वह अत्यधिक पापी है किन्तु उसके चरमाराध्य पतित-पावन हैं, अतः उनकी महिमा का गान करते हुए दृढ़ विश्वास के साथ कहते हैं कि प्रभु ने मेरा भी उद्धार कर दिया है।

“नाहिनै नाथ! अवलंब मोहि आनकी ।  
करम-मन-बचन पन सत्य करुनानिधे!  
एक गति राम! भवदीय पदत्रानकी ॥  
कोह-मद-मोह-ममतायतन जानि मन,  
बात नहिं जाति कहि गयान बिग्यानकी ।  
काम संकलप उर निरखि बहु बासनहिं,  
आस नहिं एकहू आँक निरबानकी ॥  
बेद-बोधित करम धरम बिनु अगम अति,  
जदपि जिय लालसा अमरपुर जानकी ।  
सिद्ध-सुर-मनुज दनुजादिसेवत कठिन,  
द्रवहिं हठजोग दिये भोग बलि प्रानकी ॥  
भगति दुरलभ परम, संभु-सुक-मुनि-मधुप,  
पयास पदकंज-मकरंद-मधुपानकी ।  
पतित-पावन सुनत नाम बिस्त्रामकृत,  
भ्रमित पुनि समुझि चित ग्रंथि अभिमानकी ॥

नरक—अधिकार मम घोर संसार—तम—  
 कूपकहिं, भूप! मोहि सक्ति आपानकी।  
 दास तुलसी सोउ त्रास नहि गनत मन,  
 सुमिरि गुह गीध गज ग्याति हनुमानकी।।<sup>161</sup>

अर्थात् हे नाथ! मुझे और किसी का आसरा नहीं है। हे करुणानिधान! मन, वचन और कर्म से मेरी यह सच्ची प्रतिज्ञा है कि मुझे केवल एक आपकी जूतियों का ही सहारा है। मेरा मन क्रोध, अभिमान, अज्ञान और ममताका स्थान है; इसलिये ज्ञान—विज्ञान की बात तो उसके लिये कही ही नहीं जा सकती। हृदय में अनेक कामनाओं के सकल्प और नाना प्रकार की (विषय—) वासनाएं देखकर मोक्षकी तो एक अंश भी आशा नहीं है। यद्यपि (कर्म—धर्म—हीन होकर भी) मेरे मन में स्वर्ग जाने की बड़ी लालसा लग रही है, पर वेदोक्त कर्म—धर्म किये बिना स्वर्ग की प्राप्ति होना अत्यन्त कठिन है। इसके सिवा सिद्ध, देवता, मनुष्य, एवं राक्षसों की सेवा भी बड़ी कठिन है। ये लोग तभी प्रसन्न होंगे जब इनके लिये हठयोग किया जाय, यज्ञ का भाग दिया जाय और प्राणों की बलि चढ़ायी जाय। (यह सब भी मुझसे नहीं हो सकता, अतएव इन लोगों की कृपा की आशा करना भी व्यर्थ है) भक्ति (तो मुझ—सरीखे मनुष्य के लिये) परम दुर्लभ है; क्योंकि शिव, शुकदेव तथा मुनिरूप भौरे भी आपके चरण—कमलों के मधुर मकरन्द को पीने के लिये सदा प्यासे ही बने रहते हैं (इस रसको पीते—पीते जब वे भी नहीं अघाते तब मुझ—जैसा नीच तो किस गिनती में है?) हाँ, आपका नाम अवश्य ही पतितों को पावन करने वाला तथा शान्ति (मोक्ष) देने वाला सुना जाता है; किन्तु चित्त में अभिमान की गाँठें पड़ी रहने के कारण (राम—नाम के साधन से भी) मन फिर भ्रम जाता है। (मैं इतना बड़ा समझदार और विद्वान् होकर मामूली राम—नाम लूँ, इस अभिमान के मारे राम—नाम से भी वंचित रह जाता हूँ)। हे महाराज! इन सब बातों को देखते मेरा तो, बस, नरक में ही जाने का अधिकार है, मेरे कर्मों से तो मैं घोर संसार रूपी अँधेरे कुएँ में पड़ा रहने योग्य ही हूँ, किन्तु इतने पर भी मुझे आपका ही बल है। यह तुलसीदास अपने मन में गुह, जटायु, गजेन्द्र और हनुमान् की जाति याद करके संसार के उस (जन्म—मरण) भय को कुछ भी नहीं समझता (अन्त्यज, पशु और पक्षियों तक का उद्धार हो गया है तब मेरा क्यों न होगा? अर्थात् अवश्य होगा)। इस प्रकार

तुलसीदास मन को श्रीराम की कृपा के प्रति अश्वासन प्रदान करते हैं। तुलसीदास ने श्रीराम के प्रति अनन्यता और एकनिष्ठता का भाव व्यक्त करते हुए कहा है कि हे स्वामी, मुझे आपको छोड़ किसी अन्य का सहारा नहीं है। हे करुणा-निधान मैं तो अपने कर्म, मन और वचन से एकमात्र प्रतिज्ञा का निर्वाह कर रहा हूँ कि आपको छोड़ मेरा कोई अन्य सहारा नहीं है। हे प्रभु! मेरी तो एकमात्र गति आप ही हैं।

**विचारणा**—‘विचारणा’ शब्द का अर्थ है—“(वि+चर्+णिच्+ युच्,+टाप्) 1) परीक्षण, विचार विमर्श, गवेषणा 2) पुनर्विचार, सोच-विचार, चिन्तन 3) संदेह 4) दर्शनशास्त्र की मीमांसा पद्धति।”<sup>162</sup> विचारण अथवा विचारणा की स्थिति में पहुँचने पर भक्त दर्शन-लोक में कदम रखता है। यहाँ वह परमात्मा, जीवात्मा, जगत् इत्यादि से संबंधित अनेकानेक प्रश्नों का उत्तर प्राप्त करने का प्रयास करता है। आराध्य के वास्तविक रूप को जानने की अकांक्षा इसके मूल में कार्य करती है। विचारण की भूमिका में भक्त कवि दर्शन के लोक में पहुँचकर जीवात्मा एवं परमात्मा-सम्बन्धी अनेकानेक ग्रन्थियों को सुलझाने का प्रयत्न करता है। इस प्रकार विचारणा में अपने पापों का स्मरण और पश्चाताप की भावनाएँ रहती है। पापों के स्मरण में अपने दोषों, अपराधों अथवा कुत्सित कृत्यों पर भक्त का ध्यान जाता है; परन्तु पश्चाताप में विशेष रूप से सत्कृत्यों पर उसकी दृष्टि रहती है, जिन्हें वह सम्पादित नहीं कर सका। इन दशाओं में वह अपने मन में ही मन्थन करता रहता है। इसी कारण इसे विचारणा का नाम दिया गया है। सूर की रचनाओं में विचारणा का यह भाव विद्यमान है—

“बिनती करत मरत हौं लाज ।

नख-सिख लौं मेरी यह देही है पाप की जहाज ।

और पतित आवत न आँखितर देखत अपनौ साज ।

तीनीं पन भरि ओर निबाहयो तरु न आयौ बाज ।

पाछ भयौ न आगै ह्वै है, सब पतितनि सिरताज ।

नरकौ भज्यौ नाम सुनि मेरौ, पीठि दर्ई यमराज ।

अबलौं नान्हे-नून्हे तारे, ते सब वृथा अकाज ।

साँच बिरद सूर के तारत, लोकनि-लोक अवाज ॥”<sup>163</sup>

अर्थात् विनती करते हुए भी मैं लाज से मरा जा रहा हूँ। नीचे से ऊपर तक मेरा शरीर पाप के जहाज के समान है। अपने साज को देखते हुए मुझे अपने जैसा कोई पतित दिखाई नहीं देता। तीनों पन (बालपन, युवावस्था, प्रौढ़ावस्था) लगभग पूरे निभा दिये, फिर भी बाज नहीं आया। (दुष्कर्मों में) मैं किसी से पीछे न होकर सबसे आगे ही रहा तथा सभी पतितों का सिरमौर हूँ। मुझ जैसे का नाम सुनकर नरक भी भाग गया है, यमराज ने मुँह मोड़ लिया है। प्रभु, अब तक तो आपने छोटे-छोटे पतितों का ही उद्धार किया है; वह सब व्यर्थ है, बेकार है। तो तुम्हारा यश तब सच्चा है जब तुम सूरदास (जैसे पापी) का उद्धार करो, (इससे) सभी लोकों में तुम्हारा यशोगान होगा।” इस प्रकार सूरदास अपने भगवान् से अपने उद्धारकी प्रार्थना कर रहे हैं कि हे भगवान् जब आप मुझ जैसे पापी का उद्धार करेंगे तभी सभी लोकों में आपका यशोगान होगा। कबीर भी विचारण करते हुए लिखते हैं कि—

“लोका मति के भोरा रे।

जौ कासी तन तजै कबीरा, तौ रामहि कहा निहोरा रे।।

तब हम वैसे अब हम ऐसे, इहै जनम का लाहा।

ज्युं जल में जल पैसि न निकसै,

यूं दुरि मिल्या जुलाहा।।

राम भगति परि जाकौ हित चित,

ताकौ अचिरज काहा।

गुर प्रसाद साध की संगति, जग

जीतें जाई जुलाहा।।

कहै कबीर सुनहुं रे संतौ,

भ्रमि परे जिनि कोई।

जस कासी तस मगहर ऊसर,

हिरदै राम सति होई।।<sup>164</sup>

अर्थात् “हे साधु! हम तो साधारण बुद्धिधारी हैं, यह जानते हैं कि यदि यहाँ काशी करवट लेकर प्राण गवा बैठे तो फिर प्रभु राम को किस भाँति मुँह दिखा सकते हैं? तब काशी—करवट से तो हम वैसे ही पाप—भागी बन जायेंगे? यदि अब पापी हैं तो इस जन्म का लाभ प्राप्त कर प्रभु भक्ति द्वारा पाप—प्रक्षाल का प्रयत्न तो कर लेंगे,



जिस प्रकार जल में जल मिल जाने पर उसी जल को पुनः अलग नहीं किया जा सकता, उसी प्रकार मुझ कबीर जुलाहे के धुलि में मिल जाने पर पुनः शरीर रचना नहीं हो सकती। जिस व्यक्ति को ईश्वर भक्ति में कुशलता दृष्टिगत होती हो, भला उसका अहित कैसे हो सकता है? गुरु—उपदेश पर एवं साधु—संगति से कबीर जुलाहा समस्त संसार पर आध्यात्मिक विजय प्राप्त कर कबीर कहते हैं कि हे सन्ता! माया भ्रम का परित्याग कोई बिरला ही कर पाता है। यदि हृदय में राम—नाम का दृढ़ सम्बल हो तो काशी और मगहर में शरीर—त्याग समान है।<sup>165</sup> इस प्रकार कबीरदास मनुष्य को राम—नाम की महिमा बतलाते हुए लिखते हैं कि भक्त को भगवान् के नाम पर पूरा भरोसा होता है। स्थान—विशेष पर जाकर शरीर—त्यागने से मुक्ति मिलती है इसी बात को कबीरदास ने गलत ठहराते हुए लिखा है कि स्थान कोई पवित्र तथा कोई अपवित्र नहीं होता। हमारे भाव उच्च होने पर हृदय में भक्ति का प्रवाह उमड़ने पर व्यक्ति कही भी शरीर त्यागे उसे प्रभु अपने भगवद् धाम में बुला ही लेते हैं अतः मनुष्य जीवन का चरम लक्ष्य है— ईश्वर प्राप्ति।

**“मोहि मूढ़ मन बहुत बिगोयो ।**

**याके लिये सुनहु करुणामय, मैं जग जनमि—जनमि दुख रोयो ॥**

**शीतल मधुर पियूष सहज सुख निकटहि रहत दूरि जन खोयो ॥**

**बहु भाँतिन झ्रम करत मोहबस, बृथहि मंदमति बारि बिलोयो ॥**

**करम—कीच जिय जानि, सानि चित, चाहत कुटिल मलहि मल धोयो ।**

**तृषावंत सुरसरि बिहाय सठ फिरि—फिरि बिकल अकास निचोयो ॥**

**तुलसिदास प्रभु! कृपा करहु अब, मैं निज दोष कछू नहिं गोयो ।**

**डासत ही गइ बीति निसा सब, कबहुँ न नाथ! नींद भरि सोयो ॥”<sup>166</sup>**

अर्थात् इस मूर्ख मनने मुझको खूब ही छकाया। हे करुणामय! सुनिये, इसी के कारण मैं बारंबार जगत् में जनम—जनम कर दुःख से रोता फिरा। शीतल और मधुर अमृतरूप सहजसुख (ब्रह्मानंद) जो अत्यन्त निकट ही रहता है, (आत्मा का स्वरूप ही सत्, चित्, आनन्दघन है) मैंने इस मन के फेर में पड़कर उसे यों भुला दिया, मानो वह बहुत ही दूर हो। मोहवश अनेक प्रकार से परिश्रम कर मुझ मूर्ख ने व्यर्थ ही पानी को बिलोया (बिषयरूपी जलको मथ कर उससे परमानन्दरूपी घी निकालना चाहा)। यद्यपि मन में यह जानता था कि कर्म कीचड़ है, (उसमें पड़ते ही सब ओर

से मलिनता छा जायगी) फिर भी चित्त को उसी में सानकर (प्यास बुझाने के लिये) मैं कुटिल, मल से ही मल को धोना चाहता हूँ। प्यास लग रही है, पर मैं ऐसा दुष्ट हूँ कि श्रीगंगा जी को छोड़कर बार-बार व्याकुल हो आकाश निचोड़ता फिरता हूँ, (सच्चे सुख की प्राप्ति के लिये दुःख रूप विषयों में भटकता हूँ)। हे नाथ! मैंने अपना एक भी दोष आपसे नहीं छिपाया है, अतः अब इस तुलसीदास पर कृपा कीजिये। मुझे बिछौना बिछाते- बिछाते ही सारी रात बीत गयी, पर हे नाथ! कभी नींद भर नहीं सोया। (सुख-प्राप्ति के उपाय करते-करते ही जीवन बीत गया, आपको प्राप्त कर पूर्णकाम हो बोधरूप सुख की नींद में कभी नहीं सो पाया। अब तो कृपा कीजिये)“ इस प्रकार तुलसीदास ने अपने अंतर्मन की मूढताकी भर्त्सना करते हुए श्रीराम से अपने उद्धार की प्रार्थना की है। तुलसीदास अपने आराध्य को सम्बोधित करते हुए लिखते हैं कि हे भगवन् इस मूर्ख मन ने मेरा बहुत नाश किया है। हे करुणामय राम! इसी मन के कारण मैं अनेक सांसारिक यातनाएँ सहता रहा और इसी दुःख में रोता रहा। भाव यह है कि सुख प्राप्त करने के लिए मैं सांसारिक विषय वासनाओं में लिप्त रहा हूँ जो कि पानी को मथने के समान निरउद्देश्य है। मेरा तो सम्पूर्ण जीवन ही सुख प्राप्ति के लिए उपाय करते हुए ही बीत गया और मुझे एक पल को भी सच्चा सुख नहीं मिल सका। क्योंकि संसार अपूर्ण है तो सच्चा सुख कैसे। हरि पूर्ण है और उनके चरणों की भक्ति करने से ही सच्चा सुख मिलता है जो कभी समाप्त नहीं होता। अतः तुलसीदास मनुष्य शरीर पाकर हरि-भजन नहीं किया तो जीवन व्यर्थ समझते हैं:-

“लाभ कहा मानुष-तनु पाये।

काय-बचन-मन सपनेहुँ कबहुँक घटत न काज पराये ॥

जो सुख सुरपुर-नरक, गेह- बन आवत बिनहिं बुलाये।

तेहि सुख कहँ बहु जतन करत मन, समुझत नहिं समुझाये ॥

पर-दारा, पर-द्रोह, मोहबस किये मूढ मन भाये।

गरभवास दुखरासि जातना तीब्र बिपति बिसराये ॥

भय-निद्रा, मैथुन-अहार, सबके समान जग जाये।

सुर दुरलभ तनु धरि न भजे हरि मद अभिमान गवाँये ॥

गई न निज-पर-बुद्धि, सुद्ध हवै रहे न राम-लय लाये ।

तुलसिदास यह अवसर बीते का पुनि के पछिताये ॥<sup>167</sup>

अर्थात् मनुष्य शरीर पाने से क्या लाभ हुआ जब कि वह कभी स्वप्न में भी मन, वाणी और शरीर से दूसरे के काम नहीं आया। विषय-सम्बन्धी जो सुख स्वर्ग, नरक, घर और वन में बिना ही बुलाये आप-से-आप आ जाता है, उस सुख के लिये, अरे मन ! तू अनेक प्रकार के उपाय कर रहा है! समझाने पर भी नहीं समझता। हे मूढ़! तूने अज्ञान के वश होकर परायी स्त्री के लिये और दूसरों से वैर करने के लिये मनमाने आचरण किये। गर्भ में महान् दुःख, दारुण कष्ट और विपत्ति भोगी थी, उसे भूल गया (यह नहीं सोचा कि इन मनमाने कुकर्मा से फिर वही गर्भावास के दुःख भोगने पड़ेंगे)। डर, नींद, मैथुन और भोजन आदि तो संसार में जन्म लेने वाले सभी जीवों में एक-से हैं! परन्तु तूने तो देवताओं को भी दुर्लभ मनुष्य-शरीर को पाकर उससे भी भगवान् का भजन नहीं किया और अहंकार और घमंड में उसे खो दिया। जिनकी मेरे-तेरे की भेदबुद्धि नष्ट नहीं हुई और शुद्ध अन्तःकरण से जिन्होंने श्रीराम में चित्त को लीन नहीं किया, उन्हें हे तुलसीदास! ऐसा यह (मनुष्य-शरीरका) सुअवसर निकल जानेपर फिर पछतानेसे क्या मिलेगा? (इसलिये चेतकर अभी भगवान् के भजन में लग जाना चाहिये)। इस प्रकार तुलसीदास मानव मन को निजी स्वार्थों से ऊपर उठकर परोपकार की ओर प्रवृत्त कर रहे हैं। जिस व्यक्ति ने मानव जीवन प्राप्त करने पर भी दूसरों का भला नहीं किया तो उसका मानव शरीर पाने का क्या लाभ हुआ। मनुष्य का मन उन विषय वासनाओं से सुख पाने की आस लगाए रखता है जो कि वस्तुतः दुःखों की मूल होती है। प्रस्तुत पद में तुलसीदास लोकपक्ष को लेकर चले हैं। मानव जीवन की सार्थकता निश्चय ही परोपकार में छिपी है। अपने लिए तो पशु, पक्षी भी जीते हैं किन्तु मनुष्य दूसरों के लिए जीता है। यही मानव व पशु का मुख्य अन्तर भी है। प्रस्तुत पद लिखने का उद्देश्य जन कल्याण है।

“काजु कहा नरतनु धरि सारयो ।

पर-उपकार सार श्रुतिको जो,सो धोखेहु न बिचारयो ॥

द्वैत मूल, भय-सूल, सोक-फल, भवतरु तरै न टारयो ।

रामभजन-तीछन कुठार लै सो नहिं काटि निवारयो ॥

संसय—सिंधु नाम बोहित भजि निज आतमा न तारयो ।

जनम अनेक विवेकहीन बहु जोनि भ्रमत नहिं हारयो ॥

जन्म अनेक विवेकहीन बहु जोनि भ्रमत नहिं हारयो ॥

देखि आनकी सहज संपदा द्वेष—अनल मन—जारयो ।

सम, दम, दया, दीन—पालन, सीतल हिय हरि न सँभारयो ॥

प्रभु गुरु पिता सखा रघुपति तैं मन क्रम बचन बिसारयो ।

तुलसीदास यही आस, सरन राखिहि जेहि गीध उधारयो ॥<sup>168</sup>

अर्थात् तूने मनुष्य—शरीर धारणकर कौन—सा कार्य सिद्ध किया? जो परोपकार वेदों का सार है, उसे तूने भूलकर भी नहीं विचारा। यह संसार रूपी वृक्ष, जिसकी द्वैत अर्थात् भेदबुद्धि जड़ है, जिसमें भयरूपी काँटे हैं, और दुःख जिसका फल है, हटाने पर भी नहीं हटता (क्योंकि जबतक इसकी द्वैतरूपी अज्ञान की जड़ नहीं कटती तब तक इसका हटना असंभव है)। यह केवलरामजी के भजन रूपी तेज कुल्हाड़ी से ही कटता है, परन्तु तूने भजन करके उसे नहीं काटा। संशय (अज्ञान)—रूपी समुद्रसे पार जाने के लिये राम—नाम नौकारूप है, सो उसका सेवन कर तूने अपनी आत्मा को नहीं तारा। अनेक जन्म तक, ज्ञानहीन रहकर बहुत—सी योनियों में घूमता हुआ भी तू अबतक नहीं थका। दूसरों की सहज सम्पत्ति देखकर द्वेषरूपी अग्नि में मनको जलाता रहा (हाय! उसके धन का नाश क्यों नहीं होता? इसी द्वेषाग्नि से जलता रहा)। शम, दम, दया और दीनों का पालन करते हुए हृदय को शान्त कर भगवान् का स्मरण नहीं किया। तूने मनसे, कर्मसे और वचन से अपने (सच्चे) स्वामी, गुरु, पिता और मित्र उन श्रीरघुनाथजीको भुला दिया। हे तुलसीदास! अब तो यही आशा है कि जिसने जटायु गीधको तार दिया था, वही तुझे भी अपनी शरण में रखेंगे। इस प्रकार तुलसीदास अपनी आत्म भर्त्सना करते हुए लिखते हैं कि अरे मूढ़ मन! तुमने अभी तक ऐसा कोई भी कार्य पूरा नहीं किया है, जो मानव योनि पाकर कर लेना चाहिए था। वेदों—पुराणों में परोपकार को धर्मावरण का सार तत्त्व बताया गया है, किन्तु परोपकार करना तो दूर परोपकार की बात भी तूने धोखे में भी नहीं सोची है। यहाँ पर तुलसीदास ने राम—भक्ति की महिमा का वर्णन किया है तथा अपने अज्ञान का बखान किया है। लोक—पक्ष पर बल देते हुए भक्ति का सार परोपकार को बताया है।

“मन पछितैहै अवसर बीते ।

दुरलभ देह पाइ हरिपद भजु, करम, बचन अरु ही ते ॥

सहसबाहु दसबदन आदि नृप बचे न काल बलीते ।

हम—हम करि धन—धाम सँवारे, अंत चले उठि रीते ॥

सुत—बनितादि जानि स्वारथरत, न करु नेह सबही ते ।

अंतहु तोहिं तजैगे पामर! तू न तजै अबही ते ॥

अब नाथहिं अनुरागु, जागु जड़, त्यागु दुरासा जी ते ।

बुझै न काम अगिनि तुलसी कहँ, बिषय—भोग बहु घी ते ॥<sup>169</sup>

अर्थात् अरे मन!(मनुष्य—जन्मकी आयु का यह) सुअवसर बीत जानेपर तुझे पछताना पड़ेगा। इसलिये इस दुर्लभ मनुष्य शरीर को पाकर कर्म, वचन और हृदय से भगवान् के चरण—कमलों का भजन कर । सहस्रबाहु और रावण आदि (महाप्रतापी) राजा भी बलवान् काल से नहीं बच सके, उन्हें भी मरना पड़ा। जिन्होंने ‘हम—हम’ करते हुए धन और धाम सँभाल—सँभालकर रखे थे, वे भी अन्त समय यहाँसे खाली हाथ ही चले गये ( एक कौड़ी भी साथ न गयी)। पुत्र, स्त्री आदि को स्वार्थी समझ इन सबसे प्रेम न कर। अरे अधम! जब ये सब तुझे अन्त समय में छोड़ ही देंगे, तो तू इन्हें अभीसे क्यों नहीं छोड़ देता? (इनका मोह छोड़कर अभी से भगवान् में प्रेम क्यों नहीं करता?)। अरे मूर्ख! (अज्ञान—निद्रा से) जाग, अपने स्वामी (श्रीरघुनाथजी)—से प्रेम कर और हृदयसे (सांसारिक विषयोंसे सुख की) दुराशाको त्याग दे,(विषयों में सुख है ही नहीं, तब मिलेगा कहाँसे?) हे तुलसीदास! जैसे अग्नि बहुत—सा घी डालनेसे नहीं बुझती (अधिक प्रज्वलित होती है), वैसे ही यह कामना भी ज्यों—ज्यों विषय मिलते हैं त्यों—ही—त्यों बढ़ती जाती है। (यह तो सन्तोषरूपी जलसे ही बुझ सकती है)। इस प्रकार प्रस्तुत पद में तुलसीदास शीघ्रातिशीघ्र हरि—भजन आरम्भ कर देने के तथ्य पर बल देते हैं। मनुष्य को जल्दी से जल्दी विषय— भोगों से उपराम हो जाना चाहिए। अरे मूढ; अज्ञान—निद्रा से जग जा, प्रभु से अनुराग कर और हृदय में विषय सुख की दुराशा त्याग दे। तुलसीदास समय की महत्ता को पहचानते हुए लिखते हैं कि भक्ति का बीज बाल्यवास्था में ही बो देना चाहिए ताकि वृद्धावस्था आने तक सुन्दर फल तैयार हो जाए और मनुष्य जन्म सुखों से लबालब हो जाये। क्योंकि हरि—भक्तों का तो काल भी कुछ नहीं बिगाड़ सकता।

बड़े से बड़े वीर एवं वैभवशाली नष्ट हो गए। मृत्यु अवश्यम्भावी है। अतः जीव को समझाते हुए तुलसीदास लिखते हैं कि सब—कुछ छोड़कर प्रभु के चरणों में ध्यान लगाए—

“ताँबे सो पीठि मनहुँ तन पायो ।

नीच, मीच जानत न सीस पर, ईस निपट बिसरायो ॥

अवनि—रवनि, धन—धाम, सुहृद—सुत, को न इन्हहिं अपनायो?

काके भये, गये सँग काके, सब सनेह छल—छायो ॥

जिन्ह भूपनि जग—जीति, बाँधि जम, अपनी बाँह बसायो ।

तेऊ काल कलेऊ कीन्हे, तू गिनती कब आयो ॥

देखु बिचारि, सार का साँचो, कहा निगम निजु गायो ।

भजहिं न अजहुँ समुझि तुलसी तेहि, जेहि महेस मन लायो ॥<sup>170</sup>

अर्थात् अरे जीव! मानो तूने ताँबे से मढ़ा हुआ शरीर पाया है! (तभी तो कच्चे घड़े के समान फूटनेवाले, पानी के बुद्बुदे के समान बात—की—बात में नाश हो जाने वाले नश्वर शरीर को अजर—अमर मानकर भोगों में लीन हो रहा है) और तूने परमात्मा को बिलकुल ही भुला दिया। अरे नीच! तू यह नहीं जानता कि मौत तेरे सिर पर नाच रही है! पृथ्वी, स्त्री, धन, मकान, मित्र और पुत्र को किसने नहीं अपनाया? किन्तु (आजतक) ये किसके हुए? (मरते समय) किसके साथ गये? इन सबके प्रेम में केवल कपट भरा है। जिन राजाओं ने दुनियाभर को जीतकर, यमराज को भी कैद कर अपने अधीन कर लिया था, उनका भी काल ने जब एक दिन कलेवा कर डाला, तब तेरी तो गिनती ही क्या है। विचारकर देख, सच्चा सार क्या है? और वेदों ने निश्चयरूप से क्या कहा है? हे तुलसी! यह समझकर अब भी तू उस श्रीराम को नहीं भजता, जिसमें श्री शिवजी ने अपना मन लगा रखा है।” इस प्रकार तुलसीदास लिखते हैं कि हमको यह नहीं समझ लेना चाहिए कि शरीर का नाश ही नहीं होगा, यह हमारी भूल है, क्योंकि मौत हमारे सिर पर खड़ी है। ईश्वर ही सार है। राम ही सत्य है, अतः मनुष्य को दुर्लभ देह पाकर सांसारिक विषय—वासनाओं में लिप्त नहीं होना चाहिए क्योंकि पता नहीं कब हमारा समय पूरा हो जाये और हमें रवानगी लेनी पड़े अतः समय रहते हमें ईश्वर का स्मरण करना

चाहिए क्योंकि ईश्वर पूर्णकाम है अतः तुलसीदास मन को धिक्कारते हुए राम चरणों में रत रहने का सन्देश देते हैं—

“काहे को फिरत मन, करत बहु जतन, मिटै न दुख बिमुख रघुकुल—बीर।

कीजै जो कोटि उपाइ, त्रिबिध ताप न जाइ, कह्यो जो भुज उठाय मुनिबर कीर।।

सहज टेव बिसारि तुही धौं देखु बिचारि, मिलै न मथत बारि घृत बिनु छीर।

समुझि तजहि भ्रम, भजहि पद—जुगम, सेवत सुगम, गुन गहन गँभीर।।

आगम निगम ग्रंथ, रिषि—मुनि, सुर—संत, सब ही को एक मत सुनु, मति धीर।

तुलसीदास प्रभु बिनु पियास मरै पसु, जद्यपि है निकट सुरसरि—तीर।।”<sup>171</sup>

अर्थात् “अरे मन! तू किसलिये बहुत—से प्रयत्न करता फिरता है? जब तक तू श्रीरघुकुल—शिरोमणि रामजी से विमुख है तब तक (दूसरे कितने भी साधनों से तेरा दुःख नहीं मिटेगा) भगवद्विमुख करोड़ों उपाय क्यों न करे, पर उसके दैहिक, दैविक, भौतिक तीनों ताप नष्ट नहीं हो सकते, यह बात मुनिश्रेष्ठ शुकदेवजी ने भुजा उठाकर कही है। अपने स्वभाव की टेव को छोड़कर—श्रीराम— विमुखता की आदत छोड़कर एकाग्र चित्त से तू ही विचारकर देख कि कहीं पानी के मथनेसे, बिना दूध के घी मिल सकता है? (इसी प्रकार विषयों में रत रहने से कभी सुख नहीं मिल सकता।) इस बात को समझकर भ्रम को छोड़ दे और श्रीरामचन्द्रजी के उन युगल चरणों का भजन कर, जो सेवा से सुलभ हैं और सद्गुणों के गम्भीर वन हैं अर्थात् जिन चरणों की सेवा करने से विवेक, वैराग्य, शान्ति, सुख आदि अनायास ही प्राप्त हो जाते हैं। बुद्धि स्थिर करके शास्त्रों, वेदों, अन्य ग्रन्थों, ऋषियों, मुनियों, देवताओं और संतों का जो एक निश्चित सिद्धान्त है, उसे सुन (वह सिद्धान्त यही है कि सब आशाओं को छोड़कर श्रीभगवान् के शरण होना चाहिये)। हे तुलसीदास! यद्यपि गंगा का तट निकट है, तो भी बिना स्वामी के पशु प्यासा ही मरा जाता है (इसी प्रकार यद्यपि भगवत्—प्राप्तिरूप परमसुख सहज ही मिल सकता है, पर भगवान् की शरण हुए बिना वह दुर्लभ हो रहा है)।” इस प्रकार तुलसीदास लिखते हैं कि बिना राम जी की कृपा के संसार में कुछ नहीं हो सकता है। अर्थात् राम भक्ति के बिना मनुष्य को नरकों के दुःख से मुक्ति नहीं मिल सकती। श्रीराम भक्ति के बिना मोक्ष प्राप्ति के सभी साधन निरसार हे। संसार के यह त्रिविध ताप श्री राम की भक्ति के बिना दूर

नहीं हो सकते। सांसारिक विषय-वासनाओं में लिप्त होकर मोक्ष की प्राप्ति नहीं होती। श्रीराम की भक्ति के बिना मोक्ष प्राप्ति के सारे साधन सारहीन हैं।

“अजहूँ आपने रामके करतब समुझत हित होइ।  
कहँ तू, कहँ कोसलधनी, तोको कहा कहत सब कोइ।।  
रीझि निवाज्यो कबहिं तू, कब खीझि दर्ई तोहिं गारि।  
दरपन बदन निहारिकै, सुबिचारि मान हिय हारि।।  
बिगरी जनम अनेककी सुधरत पल लगै न आधु।  
'पाहि कृपानिधि' प्रेमसों कहे को न राम कियो साधु।।  
बालमीकि-केवट-कथा, कपि-भील-भालु-सनमान।  
सुनि सनमुख जो न रामसों, तिहि को उपदेसहि ग्यान।।  
का सेवा सुग्रीव की, का प्रीति-रीति-निरबाहु।  
जासु बंधु बंध्यो ब्याध ज्यों, सो सुनत सोहात न काहु।।  
भजन बिभीषन को कहा, फल कहा दियो रघुराज।  
राम गरीब-निवाजके बड़ी बाँह-बोलकी लाज।।  
जपहि नाम रघुनाथको, चरचा दूसरी न चालु।  
सुमुख, सुखद, साहिब, सुधी, समरथ, कृपालु, नततालु।।  
सजल नयन, गदगद गिरा, गहबर मन, पुलक सरीर।  
गावत गुनगन रामके केहिकी न मिटी भव-भीर।।  
प्रभु कृतग्य सरबग्य हैं, परिहरु पाछिली गलानि।  
तुलसी तोसों रामसों कछु नई न जान-पहिचानि।।”<sup>172</sup>

अर्थात् अब भी यदि तू अपनी (नीच करतूतों को) और श्रीरामजी के (दयासे पूर्ण) करतबों को समझ ले तो तेरा कल्याण हो सकता है; कहाँ तू (रामविमुख, विषयों में लगा हुआ जीव) और कहाँ (अहैतुकी दयाके समुद्र) कोशलपति भगवान् श्रीरामचन्द्रजी! तुझे सब लोग क्या कहते हैं? (कि यह रामका भक्त है। भक्त और भगवान् में कोई भेद नहीं होता। ऐसा कहलाना क्या तेरी करतूतों का फल है?) अरे, जरा (विवेकरूपी) दर्पण में (अपने मनरूपी) मुख को तो देख कि कब तो श्रीरामजी ने प्रसन्न होकर तुझपर कृपा की है और कब गुस्से में आकर तुझे गालियाँ दी है? (विचारने से तुझे यह स्पष्ट प्रतीत होगा कि श्रीरामने तो सदा कृपा ही की है, जो



कुछ दोष है, सो तेरा ही है। भगवान् गुस्से होकर गालियाँ देने लगे तो जीव का निस्तार ही कैसे हो?) फिर (अपनी करतूतों के लिये) अपनी हार मान (न तो यह समझ कि मेरी करनीसे मैं भक्त कहलाया हूँ और न उन पर दोषारोपण ही कर कि भक्त होने पर भी वे मेरा उद्धार क्यों नहीं करते?) अरे, (उनको उद्धार करते देर ही क्या लगती है) अनेक जन्मों की बिगड़ी हुई दशा सुधारने में उन्हें आधा पल भी नहीं लगता। 'हे कृपानिधान! मेरी रक्षा कीजिये'—प्रेम से इतना कहते ही ऐसा कौन पापी है जिसको श्रीरामचन्द्रजी ने (सच्चा) साधु नहीं बना दिया? वाल्मीकि और गुह निषाद की कथा तथा सुग्रीव, हनुमान्, शबरी, रीछ जाम्बवान् आदि के आदर—सत्कार की बात सुनकर भी जो श्रीरामजी के शरण नहीं हुआ, उस (मूर्ख)—को कौन ज्ञान का उपदेश कर सकता है? सुग्रीव ने कौन—सी सेवा की, और कौन—सी प्रीति की रीति निबाही थी? (राज्य पाकर वह तो श्रीरामजी के कार्य को भूल गया!) पर उसके भी भाई बालि को (अपने ऊपर कंलक लेकर भी) व्याध की नाई मार डाला। इस प्रकार मारने की बात सुनकर (भक्तों के अतिरिक्त और) किसी को भी वह अच्छी नहीं लगती। विभीषण ने कौन—सा भजन किया था? किन्तु रघुनाथजी ने उसे, उसके बदले में क्या फल दिया (लंका का महान् साम्राज्य और अपना अचल प्रेम)। असल में गरीब निवाज श्रीरामचन्द्रजी को (शरणागत के ) रक्षा करने के वचन की बड़ी लाज है। (शरण आये हुए के पिछले कर्मों की ओर वे देखते ही नहीं)। इसलिये तू रघुनाथजी का ही नाम जपा कर, दूसरी चर्चा ही न चलाया कर, क्योंकि सुन्दर, सुख देनेवाले, बुद्धिमान्, समर्थ, कृपासागर और शरणागत की रक्षा करने वाले स्वामी एक वही हैं। ऐसा कौन है जिसने आँखों में आँसु भरकर, गद्गद वाणी से, प्रेमपूर्ण चित्त से तथा पुलकित होकर श्रीरामचन्द्रजी की गुणावलिका गान किया हो, और उसका सांसारिक कष्ट (जन्म—मरण) नहीं छूट गया हो? पश्चात्ताप करना छोड़ दें। प्रभु रामचन्द्रजी उपकार मानने वाले और सभी बाहर—भीतर की, आगे—पीछे की बातों को जाननेवाले हैं (उनसे तेरी कोई करनी छिपी नहीं है)। तुलसीदास! रामजी से तेरी कुछ नयी जान—पहचान नहीं है। (उन पर दृढ़ भरोसा रख)। इस प्रकार तुलसीदास लिखते हैं कि प्रभु रामचन्द्र जी उपकार मानने वाले हैं और सभी जीवों पर दया करने वाले हैं। प्रस्तुत पद में तुलसीदास भगवान् श्रीराम के प्रति अपना अनन्य प्रेम—भाव अभिव्यक्त करते हैं तथा लिखते हैं कि अरे मेरे अंतर्मन! यदि तू

आज या अब भी अपने स्वामी श्रीराम के करुणापूर्ण करतबों को समझ लेगा तो उसमें तेरी भलाई ही है। मन् तुझे इस तथ्य की उपेक्षा नहीं करनी चाहिए कि कौशल—नरेश श्रीराम और तेरे मध्य पर्याप्त अन्तर है तथा तुझको सब लोग क्या कहा करते हैं—‘तू भगवान् का है’ क्या यह सम्बन्ध सुलभ है? ऐसा सम्बन्ध बड़े—बड़े योगियों को भी प्राप्त नहीं हो गया है। अतः हे मेरे अंतर्मन! तू विचारकर कि भगवान् राम सुन्दर सुखदायक, बुद्धिमान, सामर्थ्यवान तथा दया के सागर हैं। प्रभु जैसा भक्त वत्सल और कोई भी नहीं है। तुलसीदास लिखते हैं कि हे मनुष्य (जीव) तेरी भगवान् से कोई नई पहचान नहीं है—तेरा तो उनके साथ जन्म—जन्मांतर का सम्बन्ध चला आ रहा है। अतः भक्त प्रभु की थोड़ी सी भक्ति करके बहुत कुछ प्राप्त कर लेता है। क्योंकि प्रभु सुन्दर सुखों को देने वाले, बुद्धिमान, समर्थ, कृपालु और शरणागत के रक्षक हैं। अतः मनुष्य को प्रभु भजन में लीन रहना चाहिए क्योंकि पुलकायमान देह से युक्त होकर श्रीरामचन्द्रजी का गुणगान करने से सांसारिक कष्ट (जन्म—मरण का बन्धन) दूर हो जाते हैं। अतः मनुष्य को भक्ति के माध्यम से अपनी आत्मा को परमात्मा से विलीन करने के लिए प्रयासरत रहना चाहिए। जीव का ब्रह्म में विलीन होना ही सार्थक है। क्योंकि ब्रह्म और जीव में तो अनादिकाल से सम्बन्ध है। अतः दृढ़ विश्वास होता है तभी वह स्वयं तर कर दूसरों को तारता है।

#### 4 विनय—पत्रिका में विद्यमान भक्ति के अंग एवं भूमिकाओं की उपादेयता—

भक्ति साहित्य में विनयपत्रिका को भक्तों का कंठहार कहा गया है। इसमें तुलसीदास की आत्मनिवेदन परक विनयावनत दास्य भक्ति मुख्य रूप से मुखरित हुई है।

विनयपत्रिका में दास्य भक्ति पदे—पदे परिलक्षित होती है। ईश्वर के नाम—श्रवण, गुण—संकितर्तन एवं स्मरण के साथ ‘पाद—सेवन’— से अभिप्राय—अनुदिन इष्ट के सानिध्य में रहना है, जैसे—हनुमान जी की भक्ति है, वैसे ही तुलसीदास की भक्ति है। वे भी पूरी विनय—पत्रिका में भगवान् के चरणों में समर्पित सेवक के रूप में सतत साधनारत दिखाई देते हैं।

विनय-पत्रिका में तुलसीदास की विनयभाव से परिपूरित दास्य भक्ति अपने सर्वोत्तम रूप में उजागर हुई है। सेवक जब अपने स्वामी की सेवा में समर्पित हो जाता है, तब उसका इहलोक और परलोक स्वतः सुधर जाता है। उसे राज और समाज की चिन्ता नहीं रहती, क्योंकि वह अपने स्वामी द्वारा सर्वथा चिन्ता रहित, रक्षणीय एवं पालनीय है, उसके सारे कष्ट उसके स्वामी स्वतः ही दूर कर देते हैं। ऐसे ही भाव विनय-पत्रिका में भक्त सिरमणी तुलसीदास के आत्मनिवेदन परक पदों में प्रकट हुए हैं। इन पदों में मन को जगत् की ओर से खींचकर प्रभु चरणों में अपने को लगाने के लिए उद्बोधन है, इसलिए यहां एक ओर संसार की असारता और उसके मिथ्यात्व का प्रतिपादन किया गया है, दूसरी ओर यह समझाया गया है कि राम दयालु हैं उनके शील-स्वभाव का विस्तृत गुणगान किया गया है और उनके स्मरण को उनके स्नेह की प्राप्ति का सर्वोत्कृष्ट साधन बताते हुए मन को प्रायः नामानुराग का उपदेश दिया गया है। कुछ पदों में स्वामी की सेवा में करुण शब्दों में अपनी दीनता का निवेदन किया गया है। स्वामी के सम्मुख अपने को सभी प्रकार से हीन मलिन और निराश्रय बताया गया है, जिससे वे करुणासागर द्रवित होकर दास को अपने चरणों की शरण में रख लें और उसके जन्म-जन्मान्तर की साध पूरी हो। साथ ही स्वामी की उदारता का उन्हें स्मरण कराने के लिए उनकी अशरण-शरण विरुदावली भी उनके सम्मुख प्रस्तुत की गई है।

विनय-पत्रिका में तुलसीदास के ब्याज से कई बार भक्त याचना करते-करते थक जाता है लेकिन अपनी ही याचना में कमी का अनुभव करता हुआ निराश नहीं होता और आशा की डोर थामें रखता है, व अपने कर्मों को कोसते हुए पश्चाताप करता रहता है, अपनी कुटिलता और इन्द्रियासक्ति की भर्त्सना करता रहता है और पुनः प्रभु भक्ति की कामना करता हुआ अन्ततः इसमें सफल हो जाता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि विनय-पत्रिका में वैराग्य के प्रथम सोपान से लेकर प्रभु की कृपा प्राप्ति तक अनेक सोपानों को तय करने का सार्थक एवं सफल प्रयास हुआ है।

तुलसीदास ने भक्ति के अंगों व भूमिकाओं के माध्यम से मनुष्य को संसारिकता को त्यागकर प्रभु-भक्ति में लीन होने का सन्देश दिया है।

## 5. विनयपत्रिका की भक्ति और समकालीन समय एवं समाज

तुलसीदास ने विनय पत्रिका की भक्ति के माध्यम से संतप्त जीव को भवसागर से तरने का उपदेश दिया है। भौतिकवादी युग में मनुष्य का मानसिक संतुलन ठीक रखने के लिए तुलसीदास ने भक्ति का सहारा बताया है। भक्ति से मनुष्य को आत्मिक शांति मिलती है तथा वह इस नैराश्य संसार की ओर उन्मुख नहीं होता उसे सत्य, असत्य का भेद समझ में आ जाता है जिससे की वह भौतिक नश्वर संसार को छोड़कर ईश्वर की ओर उन्मुख होता है।

वर्तमान समय में मनुष्य करुणा/दया, सौहार्द, परःदुख कातरता आदि सत्य भावों से पलायन कर गया है। जिससे की समाज का दृश्य भयावह हो गया है। भक्ति उस भयावह वातावरण को आनन्दमय करने में सहायक है क्योंकि भक्त हृदय में करुणा, दया, परदुःखकातरता, सौहार्द आदि भावों का उपस्थापन स्वतः होता है अतः वह हर मनुष्य के प्रति सौहार्द का वातावरण रखता है तथा सभी के दुःख को अपना दुःख समझकर उसे दूर करने का प्रयास करता है। जिससे समाज में भयरहित वातावरण तैयार होता है तथा मनुष्य समर्थक मर्यादाएँ पुष्ट होती है। सभी में मानवीय भावों का उपस्थापन होता है। भक्त हृदय से मानवमूल्य सामाजिक मर्यादाएँ पुष्ट होती है तथा स्वच्छ व सुन्दर समाज तैयार होता है। अतः ये सभी कार्य भक्ति के माध्यम से ही संभव है। भक्त हृदय स्वयं तर कर औरों को भी तारता है।

भक्ति से प्राणीमात्र में भेदभाव का नाश होता है जिससे व्यक्ति सभी में अपने ईष्टदेव को देखता है तथा उसी एक ज्योति से उत्पन्न होने के कारण सभी के साथ सौहार्द तथा प्रेम का वातावरण तैयार होता है। ईर्ष्या, द्वेष जैसे मनोविकारों का नाश होता है जो कि वर्तमान में सभी में व्याप्त है। इसी से समाज हिंसक होता जा रहा है। भक्ति के माध्यम से हिंसा को अहिंसा में परिवर्तित किया जाता है तथा व्यष्टि ही नहीं समष्टि का भी कल्याण होता है। मगर इक्कीसवीं शती में हमें सुंदर समाज का निर्माण करना है तो वह केवल और केवल भक्ति से ही संभव है क्योंकि भक्त स्वयं मानवीय भावों से ओतप्रोत रहता है तथा औरों को भी मानवता के लिए प्रेरित करता है।

निश्चित रूप से कह सकते हैं कि अगर व्यक्ति, समाज तथा देश का कल्याण करना है तो व्यक्ति विशेष को भक्ति की ओर अग्रसर होना होगा तथा स्वयं तर कर औरों को भी तारना होगा। क्योंकि इस भयावह स्थिति में केवल भक्ति ही मनुष्य का संबल बनकर उसे सहारा प्रदान करते हुए स्वच्छ सुंदर मार्ग की ओर प्रशस्त करती है। अतः समय रहते मनुष्य को भक्तिमार्ग की ओर प्रशस्त होना चाहिए अन्यथा रूग्ण होकर व्यक्ति अपने आप को तथा समाज को नष्ट कर लेता है अतः इस दुर्लभ जीवन को आनन्दमय व खुशियों से सरोबार करने के लिय मनुष्य को भक्तिमार्ग का सहारा लेना चाहिए।

सम्भवतः भक्ति से ही मनुष्य समाज तथा विश्व का कल्याण सम्भव है।

## संदर्भ—सूची

- 1 वियोगीहरिः 'विनय-पत्रिका', (हरितोषिणी टीका),साहित्य-सेवा-सदन, काशी, पाँचवा संस्करण: 2005, पृ. 11
- 2 तुलसीदासः 'विनय पत्रिका', गीता प्रैस, गोरखपुर, संस्करण:सं. 2065, पृ.11, (पद-1)
- 3 तुलसीदासः 'विनय-पत्रिका', पृ. 12, (पद-2)
- 4 वही, पृ. 14, (पद-5)
- 5 वही, पृ. 55, (पद-41)
- 6 वही,, पृ. 339, (पद-279)
- 7 वही,, पृ. 99-100, (पद-65)
- 8 वही,, पृ. 107, (पद-73)
- 9 वही, पृ. 107-108, (पद-74)
- 10 वही, पृ. 120, (पद-87)
- 11 वियोगीहरिः 'विनय-पत्रिका', (हरितोषिणी टीका), पृ. 32
- 12 वही, पृ. 22
- 13 उपाध्याय, बलदेवः 'भारतीय-दर्शन', शारदा मन्दिर 29/17 गणेश दीक्षितलेन, बनारस, चतुर्थ संस्करण: 1949, पृ. 476
- 14 तुलसीदासः 'विनय पत्रिका', पृ. 113-114, (पद-79)
- 15 वियोगीहरिः 'विनय-पत्रिका', (हरितोषिणी टीका), पृ. 22
- 16 तुलसीदासः 'विनय पत्रिका', पृ. 222, (पद-177)
- 17 वही, पृ. 286-287, (पद-231)
- 18 वही, पृ. 114, (पद-80)
- 19 वही, पृ. 146, (पद-114)
- 20 वियोगीहरिः 'विनय-पत्रिका', (हरितोषिणी टीका), पृ. 23
- 21 तुलसीदासः 'विनय पत्रिका', पृ.281-282, (पद-226)
- 22 वही, पृ. 283, (पद-227)
- 23 वही, पृ. 284, (पद-228)
- 24 वही, पृ. 286, (पद-230)

- 
- 25 तिहारी, गोपीनाथ (सं.): 'तुलसीदास विभिन्न दृष्टियों का परिप्रेक्ष्य', विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी, प्रथम संस्करण: 1973 ई., पृ. 121
- 26 तुलसीदास: 'विनय-पत्रिका', पृ. 135, (पद-103)
- 27 वही, पृ. 71, (पद-50)
- 28 वही, पृ. 72, (पद-50)
- 29 वही, पृ. 68, (पद-49)
- 30 वही, पृ. 74, (पद-52)
- 31 वही, पृ. 126, (पद-93)
- 32 वही, पृ. 304, (पद-248)
- 33 वही, पृ. 78, (पद-54)
- 34 वही, पृ. 101, (पद-66)
- 35 वही, पृ. 107, (पद-73)
- 36 वही, पृ. 142-143, (पद-111)
- 37 वही, पृ. 152, (पद-120)
- 38 वही, पृ. 135, (पद-102)
- 39 वही, पृ. 148, (पद-116)
- 40 वही, पृ. 222, (पद-177)
- 41 महर्षिवेदव्यास-प्रणीत: 'श्रीमद्भागवतमहापुराण, (प्रथम खण्ड) गीताप्रेस, गोरखपुर, संस्करण: सं. 2071, पृ. 117-18 (1/8/41-42)
- 42 वही, पृ. 176, (1/19/16)
- 43 वही, पृ. 459 (द्वितीय-खण्ड) (10/51/56-57)
- 44 गुप्त, दीनदयालु: 'कबीर दर्शन', हिन्दी-विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय, संस्करण: 1962, पृ. 362
- 45 त्रिगुणायत, गोविन्द: 'कबीर की विचारधारा', साहित्य-निकेतन, कानपुर, संस्करण: सं. 2009, पृ. 341
- 46 श्यामसुन्दरदास (सं.): 'कबीर ग्रंथावली', नागरीप्रचारिणी सभा, काशी, सातवाँ संस्करण: सं. 2016, पृ.-214
- 47 तुलसीदास: 'विनय-पत्रिका' पृ. 205, (पद-160)
- 48 वही, पृ. 217-218, (पद-172)

- 
- 49 वाजपेयी, नंददुलारे: 'सूरसागर'(पहला खंड), नागरीप्रचारिणी सभा, वाराणसी, संस्करण: सं. 2015 वि., पृ. 112, (पद-340)
- 50 बाहरी, हरदेव: 'सूरसागर सटीक', (प्रथम भाग), लोकभारती प्रकाशन, 15-ए महात्मा गाँधी मार्ग, इलाहाबाद-1, संस्करण: 1974, पृ. 103, (पद-155)
- 51 सिंह, उदयभानु: 'तुलसी-दर्शन मीमांसा', लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ, संस्करण: सं. 2018 वि., पृ. 311-312
- 52 शर्मा, मुंशीराम: 'भक्ति का विकास', चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी-1, संस्करण : 1958, पृ. 272
- 53 तुलसीदास: 'विनय-पत्रिका', पृ. 137, (पद-105)
- 54 वही, पृ. 136, (पद-104)
- 55 महर्षि वेदव्यास-प्रणीत: 'श्रीमद्भागवतमहापुराण', (प्रथम खण्ड), पृ. 394, (3/31/39)
- 56 वही, पृ. 571 (4/31/9-12)
- 57 सिंह, उदयभानु: 'तुलसी-दर्शन-मीमांसा', पृ. 312
- 58 श्यामसुंदरदास (सं.): 'कबीर ग्रंथावली', पृ. 127
- 59 वाजपेयी, नंददुलारे: 'सूरसागर'(पहला खंड), पृ. 116, (पद-349)
- 60 वही, पृ. 112, (पद-337)
- 61 वर्मा, धीरेन्द्र(सं.): 'सूरसागर सार,' साहित्य भवन (प्रा.) लिमिटेड इलाहाबाद, षष्ठम संस्करण: 1981, पृ. 27-28
- 62 तुलसीदास: 'विनय-पत्रिका', पृ. 219-220, (पद-174)
- 63 वही, पृ. 220-221, (पद-175)
- 64 वही, पृ. 248-249, (पद-198)
- 65 वही, पृ. 253-255, (पद-203)
- 66 महर्षि वेदव्यास-प्रणीत: 'श्रीमद्भागवतमहापुराण', (प्रथम खण्ड), पृ. 109, (1/7/22)
- 67 वही, पृ. 114, (1/8/9)
- 68 महर्षि वेदव्यास-प्रणीत: 'श्रीमद्भागवतमहापुराण', (द्वितीय खण्ड), पृ. 295, (10/25/13)
- 69 त्रिगुणायत, गोविन्द: 'कबीर की विचारधारा', पृ. 342
- 70 श्यामसुंदरदास (सं.): 'कबीर ग्रंथावली', पृ. 124
- 71 सिंह, उदयभानु: 'तुलसी-दर्शन-मीमांसा', पृ. 313



- 
- 72 वाजपेयी, नंददुलारे: 'सूरसागर', (पहला खंड), पृ. 13, (पद-37)
- 73 बाहरी, हरदेव (सं.): 'सूरसागर सटीक' (प्रथम भाग), पृ. 19
- 74 तुलसीदास: 'विनय-पत्रिका', पृ. 281-282, (पद-226)
- 75 वही, पृ. 280-281, (पद-225)
- 76 वही, पृ. 283, (पद-227)
- 77 महर्षि वेदव्यास-प्रणीत: 'श्रीमद्भागवतमहापुराण', (द्वितीय खण्ड), पृ. 257, (10/19/10)
- 78 महर्षि वेदव्यास-प्रणीत: 'श्रीमद्भागवतमहापुराण', (प्रथम खण्ड), पृ. 117, (1/8/37)
- 79 सिंह, उदयभानु: 'तुलसी-दर्शन-मीमांसा', पृ. 313
- 80 वाजपेयी, नंददुलारे: 'सूरसागर' (पहला खंड), पृ. 29, (पद-92)
- 81 बाहरी, हरदेव: 'सूरसागर सटीक', (प्रथम भाग), पृ. 41 (पद-92)
- 82 तुलसीदास: 'विनय-पत्रिका', पृ. 125-126, (पद-93)
- 83 वही, पृ. 268-269, (पद-214)
- 84 वही, पृ. 200 (पद-155)
- 85 वही, पृ. 285, (पद-229)
- 86 महर्षि वेदव्यास-प्रणीत: 'श्रीमद्भागवतमहापुराण', (प्रथम खण्ड), पृ. 122, (1/9/32)
- 87 मिश्र, विजय शंकर : 'विनय-पत्रिका में प्रपत्तिवाद', प्रेम प्रकाशन मंदिर 3012, बल्ली मारान, दिल्ली-110006, संस्करण:1983, पृ.-73
- 88 वही, पृ. 74
- 89 सिंह, उदयभानु: 'तुलसी-दर्शन-मीमांसा', पृ. 313-314
- 90 वाजपेयी, नंददुलारे: 'सूरसागर', (पहला खंड), पृ. 55, (पद-170)
- 91 बाहरी, हरदेव(सं.): 'सूरसागर सटीक', (प्रथम भाग) पृ. 79, (पद-170)
- 92 तुलसीदास: 'विनय-पत्रिका', पृ. 123-124, (पद-91)
- 93 वही, पृ. 329-330, (पद-268)
- 94 वही, पृ. 136, (पद-104)
- 95 वही, पृ. 135, (पद-103)
- 96 सिंह, उदयभानु: 'तुलसी-दर्शन-मीमांसा', पृ. 314
- 97 वही, पृ. 314

- 
- 98 महर्षि वेदव्यास-प्रणीतः 'श्रीमद्भागवतमहापुराण', (प्रथम खण्ड), पृ. 858,  
(7/9/12)
- 99 वही, पृ. 784, (6/16/46)
- 100 श्यामसुन्दरदास (सं.) : 'कबीर ग्रंथावली', पृ. 108
- 101 वाजपेयी, नन्ददुलारे: 'सूरसागर', (पहला खंड), पृ. 52, (पद-157)
- 102 बाहरी, हरदेव: 'सूरसागर सटीक', (प्रथम भाग), पृ. 73, (पद-157)
- 103 तुलसीदास: 'विनय-पत्रिका', पृ. 210-211, (पद-166)
- 104 वही, पृ. 113-114, (पद-79)
- 105 वही, पृ. 128, (पद-95)
- 106 वही, पृ. 128, (पद-96)
- 107 वही, पृ. 297, (पद-242)
- 108 वही, पृ. 274, (पद-219)
- 109 वही, पृ. 270-271, (पद-216)
- 110 वही, पृ. 239-240, (पद-191)
- 111 वाजपेयी, नन्ददुलारे: 'सूरसागर' (पहला खंड), पृ. 53, (पद-160)
- 112 बाहरी, हरदेव(सं.): 'सूरसागर सटीक', (प्रथम भाग), पृ. 75, (पद-160)
- 113 श्यामसुन्दरदास (सं.): 'कबीर ग्रंथावली', पृ. 164, (पद-305)
- 114 सिंह, पुष्पपाल: 'कबीर ग्रन्थावली सटीक', अशोक प्रकाशन, नई सड़क,  
दिल्ली-6, संस्करण:1962, पृ. 471-72, (पद-305)
- 115 तुलसीदास: 'विनय-पत्रिका', पृ. 113-114, (पद-79)
- 116 वही, पृ. 297, (पद-242)
- 117 वही, पृ. 297-298, (पद-243)
- 118 वही, पृ. 292-293, (पद-238)
- 119 वही, पृ. 205 (पद-160)
- 120 वही, पृ. 124-125, (पद-92)
- 121 वही, पृ. 224, (पद-179)
- 122 वही, पृ. 202-203, (पद-158)
- 123 वही, पृ. 112-113, (पद-78)
- 124 वही, पृ. 125-126, (पद-93)
- 125 वाजपेयी, नन्ददुलारे: 'सूरसागर', (पहला खंड), पृ. 42, (पद-126)

- 
- 126 बाहरी, हरदेव(सं.): 'सूरसागर सटीक', (प्रथम भाग), पृ.50-51,(पद-126)
- 127 श्यामसुंदरदास (सं.): 'कबीर ग्रंथावली', पृ. 152, (पद-263)
- 128 सिंह, पुष्पपाल: 'कबीर ग्रन्थावली सटीक', पृ. 446, (पद-263)
- 129 तुलसीदास: 'विनय-पत्रिका', पृ. 126-127, (पद-94)
- 130 वही, पृ. 128, (पद-95)
- 131 वही, पृ. 128, (पद-96)
- 132 वही, पृ. 261-262, (पद-208)
- 133 आप्टे, वामन शिवराम: 'संस्कृत-हिन्दी कोष (छात्र-संस्करण)', पृ. 732
- 134 वाजपेयी, नंददुलारे: 'सूरसागर', (पहला खंड), पृ. 110-111, (पद-335)
- 135 वाजपेयी, नंददुलारे: 'सूरसागर', (पहला खंड), पृ. 31, (पद-97)
- 136 श्यामसुंदरदास (सं.): 'कबीर ग्रंथावली', पृ. 189-190
- 137 तुलसीदास: 'विनय-पत्रिका', पृ. 180-181, (पद-140)
- 138 वही, पृ. 122-123, (पद-90)
- 139 वही, पृ. 158, (पद-126)
- 140 वाजपेयी, नंददुलारे: 'सूरसागर', (पहला खंड), पृ. 31, (पद-97)
- 141 बाहरी, हरदेव(सं.): 'सूरसागर सटीक', (प्रथम भाग), पृ. 37, (पद-97)
- 142 श्यामसुंदरदास (सं.): 'कबीर ग्रंथावली', पृ. 188-189, (पद-398)
- 143 सिंह, पुष्पपाल: 'कबीर ग्रन्थावली सटीक', पृ. 526, (पद-398)
- 144 तुलसीदास: 'विनय-पत्रिका', पृ. 236, (पद-189)
- 145 वही, पृ. 284-285, (पद-143)
- 146 वाजपेयी, नंददुलारे: 'सूरसागर', (पहला खंड), पृ. 56, (पद-171)
- 147 श्यामसुंदरदास (सं.): 'कबीर ग्रंथावली', पृ. 181-182, (पद-372)
- 148 तुलसीदास: 'विनय-पत्रिका', पृ. 135, (पद-103)
- 149 वही, पृ. 177, (पद-138)
- 150 वही, पृ. 286-287 (पद-231)
- 151 वही, पृ. 109, (पद-75)
- 152 वही, पृ. 330, (पद-269)
- 153 वाजपेयी, नंददुलारे: 'सूरसागर', (पहला खंड), पृ. 31, (पद-98)
- 154 श्यामसुंदरदास (सं.): 'कबीर ग्रंथावली', पृ. 163, (पद-301)

- 
- 155 तुलसीदासः 'विनय-पत्रिका', पृ. 280-281, (पद-225)
- 156 वही, पृ. 281-282, (पद-226)
- 157 वही, पृ. 201, (पद-156)
- 158 वही, पृ. 176, (पद-137)
- 159 वही, पृ. 105, (पद-71)
- 160 वही, पृ. 268-269, (पद-214)
- 161 वही, पृ. 262-263, (पद-209)
- 162 आप्टे, वामन शिवरामः 'संस्कृत-हिन्दी कोष (छात्र-संस्करण)', पृ. 929
- 163 बाहरी, हरदेव(सं.): 'सूरसागर सटीक', (प्रथम भाग) पृ. 36-37, (पद-96)
- 164 श्यामसुन्दरदास (सं.): 'कबीर ग्रंथावली', पृ. 190, (पद-402)
- 165 सिंह, पुष्पपालः 'कबीर ग्रन्थावली सटीक', पृ. 529, (पद-402)
- 166 तुलसीदासः 'विनय-पत्रिका', पृ. 300, (पद-245)
- 167 वही, पृ. 251-252, (पद-201)
- 168 वही, पृ. 252-253, (पद-202)
- 169 वही, पृ. 248-249, (पद-198)
- 170 वही, पृ. 251, (पद-200)
- 171 वही, पृ. 246, (पद-196)
- 172 वही, पृ. 242-243, (पद-193)